

Ācārya Haribhadra's

AṢṬAKA PRAKARAṆA

(With Hindi Translation, Annotations, and Introduction)

L. D. Series 121

General Editor

Jitendra B. Shah

Translated by

K. K. Dixit



Āchārya Haribhadra's

AṢṬAKA PRAKARAṆA

(With Hindi Translation, Annotations, and Introduction)

L. D. Series : 121

General Editor

Jitendra B. Shah

Translated by

K. K. Dixit

L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD-9

AᅢᅢAKA PRAKARAᅢA

Translated By
K. K. Dixit

Published By

Dr. Jitendra B. Shah

Director

**L. D. INSTITUTE OF INDOLOGY
AHMEDABAD**

First Edition : October, 1999

ISBN 81-85857-02-4

Price : Rs. 75-00

Printer

Navprabhat Printing Press
Near Old Novelty Cinema,
Ghee-kanta, Ahmedabad.

आचार्य हरिभद्र विरचित

अष्टक प्रकरणम्

(हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियों एवं प्रस्तावना सहित)

ला. द. ग्रंथश्रेणी १२१

प्रधान संपादक

जितेन्द्र बी. शाह

अनुवादक

कृ. कु. दीक्षित

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद-९

अष्टक प्रकरणम्
अनुवादक
कृ. कु. दीक्षित

•

प्रकाशक
डॉ. जितेन्द्र बी. शाह
नियामक
लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद

•

प्रथम आवृत्ति : अक्टूबर, १९९९

•

मूल्य : रु ७५-००

•

मुद्रक :
नवप्रभात प्रिन्टिंग प्रेस
नोवेल्टी सिनेमा के समीप,
घी-काँटा मार्ग, अहमदाबाद.

Foreword

With deep delight, we publish the *Aṣṭaka-prakarāṇa* of the great Haribhadrasūri (active c. A. D. 745-785). This work presents a profound discussion on the 32 different topics of Jainism and treats its principles in considerable detail. The author moots very important issues in the background of these principles and puts forth their logical answers from the Jainistic perspective. The publication is thus of far-reaching significance. Over two decades ago, this work was translated in Hindi by late Dr. Krishna Kumar Dixit. The earlier unpublished translation is now published here together with the original Sanskrit text. It is indeed a matter of profound regret that Dr. Dixit is no longer with us. It is hoped that this book will be useful to the students of Jainism.

16-10-1999

Jitendra B. Shah

अनुक्रम

अष्टक संख्या.	विषय	पृष्ठ संख्या
	Foreword	V
	प्रस्तावना	IX
१.	महादेव	१
२.	स्नान	४
३.	पूजा	८
४.	अग्नि-कर्म (हवन)	११
५.	भिक्षा	१५
६.	सर्वसम्पत्करी भिक्षा	१८
७.	एकान्त भोजन	२२
८.	प्रत्याख्यान (पाप-विरति का संकल्प)	२५
९.	ज्ञान	२९
१०.	वैराग्य	३३
११.	तप	३६
१२.	वाद (शास्त्रार्थ)	३९
१३.	धर्मवाद	४२
१४.	एकांगी नित्यत्ववाद का खंडन	४५
१५.	एकांगी अनित्यत्ववाद के खंडन	४८
१६.	नित्यानित्यत्ववाद का समर्थन	५२
१७.	माँस-भक्षण के दोष-१	५६
१८.	माँस-भक्षण के दोष-२	५९
१९.	मदिरा-पान के दोष	६३
२०.	मैथुन के दोष	६५
२१.	धर्म संबंधी विचार-विमर्श में सूक्ष्म-बुद्धि की आवश्यकता	६९
२२.	मनोभावनाओं की शुद्धि	७२

VIII

२३. शास्त्र की प्रतिष्ठा गिरानेवाले आचरण की निन्दा	७५
२४. 'पुण्य को जन्म देने वाला पुण्य' आदि	८०
२५. पुण्य को जन्म देने वाले पुण्य का प्रधान फल	८३
२६. तीर्थंकर का दान सचमुच महान् है	८५
२७. तीर्थंकर का दान निष्फल नहीं	८८
२८. राज्य आदि का दान करने पर भी तीर्थंकर दोष के भागी नहीं	९२
२९. सामायिक का स्वरूप	९५
३०. केवल (सर्वविषयक) ज्ञान	९८
३१. तीर्थंकर का धर्मोपदेश	१०२
३२. मोक्ष	१०५
उपसंहार	१०८
परिशिष्ट-१ (श्लोकानामकारादिक्रमेण सूची)	१०९

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रंथ में प्रख्यात जैन मनीषी आचार्य हरिभद्र सूरि (समय सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी) के ३२ अष्टकों का (अर्थात् आठ आठ कारिकाएँ वाली विविध चर्चाओं का) संग्रह है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न वे थे जिनका संबंध आचारशास्त्र की ज्वलंत समस्याओं से हो और क्योंकि प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में उन उन आचारशास्त्रीय मान्यताओं का प्रतिपादन तथा प्रचार उन उन धर्मशास्त्रीय परंपराओं के माध्यम से हुआ करता था। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न वे थे जिनका संबंध धर्मशास्त्र की ज्वलन्त समस्याओं से हो। इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाकर आचार्य हरिभद्र अपने पाठकों को जताना चाहते थे कि ऐसे प्रश्नों की चर्चा जिनका प्रत्यक्ष अथवा अ-प्रत्यक्ष संबंध आचारशास्त्रीय अथवा धर्मशास्त्रीय समस्याओं से न हो उनके मतानुसार एक निरर्थक चर्चा है। प्रस्तुत ग्रंथ में संगृहीत 'धर्मवाद' नाम वाले अष्टक तेरह में आचार्य हरिभद्र ने इसी प्रश्न पर ऊहापोह किया है कि धर्मवाद का—जो उनके मतानुसार वाद का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है—विषय क्या होना चाहिए और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि धर्मवाद का विषय होना चाहिए यह जिज्ञासा कि उन उन चिंतन-परंपराओं की मौलिक मान्यताएँ स्वीकार करने पर 'धर्म-साधन' संभव बने रहते हैं अथवा नहीं। यहाँ 'धर्म-साधन' से आचार्य हरिभद्र का आशय है मोक्ष का साधन सिद्ध होने वाले आचार से, और यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रंथ में संगृहीत अष्टकों में आचार्य हरिभद्र ने कतिपय ऐसे ही प्रश्नों की चर्चा की है जिनका प्रत्यक्ष अथवा अ-प्रत्यक्ष संबंध मोक्ष-साधन की समस्याओं से है।

आचार्य हरिभद्र एक जैन थे और इसलिए उनका यह सोचना स्वाभाविक ही था कि मोक्ष-साधन से संबंधित समस्याओं का जैन-परंपरा द्वारा प्रस्तुत किया गया समाधान एक सर्वथा सुसंगत समाधान है जबकि किसी भी दूसरी परंपरा द्वारा प्रस्तुत किया गया एतत्संबंधी समाधान एक न्यूनाधिक असंगत समाधान है। लेकिन उनके दृष्टिकोण की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है और वह यह कि

वे अपने जैन पाठक का ध्यान सदा इस प्रश्न पर केन्द्रित करते हैं कि उसकी परंपरा-प्राप्त एक मान्यता को वास्तविक रूप से स्वीकार करने तथा उसे केवल औपचारिक रूप से स्वीकार करने के बीच अंतर क्या है। इस प्रकार के सभी स्थलों में आचार्य हरिभद्र का भार इस बात पर है कि एक जैन द्वारा अपनी परंपरा-प्राप्त किसी मान्यता की स्वीकृति यदि उसकी मनःशुद्धि का साधन नहीं सिद्ध होती तो वह स्वीकृति बेकार से भी गई—बीती है। लेकिन एक व्यक्ति की मनःशुद्धि, चाहे वह जैन-परंपरा की मान्यताओं को स्वीकार करने के फलस्वरूप अस्तित्व में आई हो या किसी दूसरी परंपरा की मान्यताओं को, मनःशुद्धि होने के नाते ठीक एक प्रकार की है, और आचार्य हरिभद्र को इस बात का पर्याप्त भान था। इसीलिए वे जैसे मानों इस प्रकार के अवसरों की ताक में रहते हैं जहाँ वे यह कह सके कि जैसा आचरण एक वह व्यक्ति करता है जिसने अमुक जैन मान्यता को वास्तविक अर्थ में स्वीकार किया हो ठीक वैसा ही आचरण एक वह व्यक्ति करता है जिसने अमुक दूसरी परंपरा की अमुक मान्यता को वास्तविक अर्थ में स्वीकार किया हो। यही कारण है कि उदात्त आचरण की आवश्यकता पर भार तथा परमत-सहिष्णुता ये दो ऐसी विशेषताएँ हैं जो आचार्य हरिभद्र के अधिकांश ग्रंथों में पाई जाती हैं तथा वे एक तटस्थ पाठक का ध्यान अपनी ओर बरबस आकृष्ट करती हैं, और उनका प्रस्तुत ग्रंथ इस संबंध में अपवाद नहीं। लेकिन एक जैन होने के नाते आचार्य हरिभद्र के लिए यह असंभव था कि वे किसी भी जैनैतर परंपरा की सभी मान्यताओं को सुसंगत घोषित कर दें। इतना ही नहीं, उन उन जैनैतर परंपराओं की वे वे कतिपय मान्यताएँ उनकी दृष्टि में इतनी अवांछनीय थी कि उनके प्रति आलोचनात्मक दृष्टिपात न करना तक उनके लिए असंभव था। यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र ने अपने अधिकांश ग्रंथों में उन उन जैनैतर परंपराओं की उन उन कतिपय मान्यताओं की आलोचना जैन दृष्टिकोण से की है, और इस संबंध में भी उनका प्रस्तुत ग्रंथ अपवाद नहीं।

जैसा कि अभी कहा गया था, प्रस्तुत ग्रंथ में चर्चित सभी प्रश्नों का प्रत्यक्ष अथवा अ-प्रत्यक्ष संबंध मोक्ष-साधन की समस्याओं से है। अब देखना है कि इसका अर्थ क्या। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में पल्लवित हुए सभी धर्म-संप्रदाय पुनर्जन्म की संभावना में विश्वास रखते थे और वे सभी पुनर्जन्म-चक्र से मुक्ति को एक व्यक्ति का चरम पुरुषार्थ मानते थे; (पुनर्जन्म-चक्र से मुक्ति का ही परिभाषिक नाम 'मोक्ष' है)। साथ ही, इन सब सम्प्रदायों को

मान्यता थी कि अपने शुभ प्रकार के क्रिया-कलापों (तथा उनके द्वारा अर्जित शुभ 'कर्मों') के फलस्वरूप एक व्यक्ति शुभ प्रकार का पुनर्जन्म पाता है जबकि अपने अशुभ प्रकार के क्रिया-कलापों (तथा उनके द्वारा अर्जित अशुभ 'कर्मों') के फलस्वरूप वह अशुभ प्रकार का पुनर्जन्म पाता है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि तब फिर वे क्रिया कलाप कौन से होंगे जिनके फलस्वरूप एक व्यक्ति को पुनर्जन्म-चक्र से मुक्ति अर्थात् मोक्ष मिल सकेगी। इस प्रश्न के उत्तर में सामान्यतः यही कहा जा सकता था—और वस्तुतः यही कहा भी गया—कि शुभ कोटि में परिगणित क्रिया-कलापों का ही संपादन एक विशिष्ट समझ के साथ करने के फलस्वरूप एक व्यक्ति को मोक्ष मिल सकेगी। उदाहरण के लिए, गीता में कहा गया कि अपने वर्णाश्रम-धर्म का पालन निष्काम भाव से करने के फलस्वरूप एक व्यक्ति को मोक्ष मिलेगी, और तत्त्वतः यही बात आचार्य हरिभद्र ने भी कही, (एक जैन होने के नाते आचार्य हरिभद्र वर्णाश्रमव्यस्था में विश्वास नहीं रखते थे और इसलिए प्रस्तुत विधान में 'अपने वर्णाश्रम-धर्म का पालन' के स्थान पर वे कहेंगे 'अपने अवस्थोचित धर्म का पालन'), समस्या के इस समाधान की अपनी कठिनाइयाँ थीं और विभिन्न परंपराओं द्वारा इन कठिनाइयों का सामना विभिन्न प्रकार से किया गया। प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा जाना जा सकेगा कि आचार्य हरिभद्र जैसा एक आचारनिष्ठ एवं उदारचेता जैन विचारक इन कठिनाइयों से कैसे जूझता है। आचार्य हरिभद्र की कठिनाई का एक उदाहरण ले लिया जाए। अपने इस ग्रंथ में उन्होंने एकाधिक स्थान पर दान की प्रशंसा एक मोक्ष-साधन के रूप में की है और वहाँ हमें यही समझना है कि निष्काम भाव से दिया गया दान ही मोक्ष का साधन सिद्ध होता है, लेकिन इसी ग्रंथ में एक स्वतंत्र अष्टक (नं. ७) की रचना यही सिद्ध करने के लिए की गई है कि एक साधु को एकान्त में भोजन इसलिए करना चाहिए कि वह यदि उस समय उससे भोजन माँगने आए हुए दरिद्रों को भोजन नहीं देगा तो अशुभ 'कर्म' का अर्जन करेगा और यदि देगा तो शुभ 'कर्म' का (जो दोनों ही परिस्थितियाँ उसके पुनर्जन्म का कारण सिद्ध होंगी)। समझ में नहीं आता कि यदि यह साधु इन दरिद्रों को निष्काम भाव से भोजन दे डालेगा तो उसका क्या बिगड़ जाएगा। जो भी हो, किस प्रकार के सत्-आचरण को आचार्य हरिभद्र केवल शुभ पुनर्जन्म का कारण मानते हैं और किस प्रकार के सत्-आचरण को मोक्ष का इस प्रश्न का उत्तर आचार्य हरिभद्र के पाठकों को अपनी बुद्धि का प्रयोग करके पाना होगा।

प्रस्तुत ३२ अष्टकों में से तीन को छोड़कर शेष सभी का सीधा संबंध आचारशास्त्रीय अथवा धर्मशास्त्रीय समस्याओं से है। अपवाद रूप तीन अष्टक वे हैं जिनमें से एक में एकांगी नित्यत्ववाद का खंडन किया गया है, एक में एकांगी अनित्यत्ववाद का खंडन तथा एक में नित्यानित्यत्ववाद का समर्थन (अष्टक १४, १५, १६), लेकिन इन अष्टकों का भी आचारशास्त्रीय तथा धर्मशास्त्रीय समस्याओं से दूर का संबंध नहीं, क्योंकि इनकी सहायता से भी आचार्य हरिभद्र ने कतिपय आचारशास्त्रीय तथा धर्मशास्त्रीय मान्यताओं का ही पुष्ट-पोषण करना चाहा है। आचारशास्त्रीय तथा धर्मशास्त्रीय समस्याओं से सीधा संबंध रखनेवाले अष्टकों में से कुछ की उपयोगिता एक साधु के ही निकट है तथा शेष की एक साधु तथा एक गृहस्थ दोनों के निकट, लेकिन एक जैन होने के नाते (अर्थात् एक निवृत्ति-मार्गी परंपरा के अनुयायी होने के नाते) आचार्य हरिभद्र को इस प्रकार बात करना प्रायः अनिवार्य हो जाता है जैसे मानों गृहस्थ-जीवन एक सर्वथा निंद्य प्रकार का जीवन है और मैथुन संबंधी अष्टक (नं. २०) में वे इस बात को स्पष्ट रूप से कह भी देते हैं। फिर हमें ध्यान देना है उन तीन अष्टकों पर जिनमें आचार्य हरिभद्र उन तीन आपत्तियों का क्रमशः निवारण करते हैं जो एक जैन तीर्थंकर की जीवन-चर्या के विरुद्ध किन्हीं जैनेतर धर्मशास्त्रियों की ओर से उठाई जाती होंगी (अष्टक २६, २७, २८) इन अष्टकों पर साम्प्रदायिकता की छाप स्पष्ट है लेकिन इनकी सहायता से भी आचार्य हरिभद्र अपनी कतिपय सैद्धान्तिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण संभव बना पाए हैं। कुछ इसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की छाप लिए प्रतीत होता है वह अष्टक जिसमें सामायिक का स्वरूप-निरूपण किया गया है, अष्टक २९ लेकिन उसकी स्थिति थोड़ी भिन्न है। बात वह है कि मोक्ष का साधन क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर यदि आचार्य हरिभद्र को एक शब्द में देना हो तो वे कहेंगे "सामायिक"। ऐसी दशम में उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे सामायिक को उन सब क्रियाकलापों की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करें जिन्हें उन उन जैनेतर परंपराओं में मोक्ष का साधन माना गया है (भले ही ये क्रिया-कलाप अमुक अमुक अंश में सामायिक जैसे ही क्यों न हों)—और प्रस्तुत अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने यही किया भी है। वस्तुतः प्रस्तुत अष्टक जैसी रचनाएँ ही तो हमें वह सामग्री प्रदान करती हैं जिसकी सहायता से हम इस बात का अध्ययन कर सकें कि प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत के उन उन धर्मसम्प्रदायों द्वारा आदर्श रूप से कल्पित जीवन-चर्याएँ किस किस बात में एक दूसरे के समान हैं तथा

किस किस बात में एक दूसरे के असमान, अभी प्रसंगवश आचार्य हरिभद्र के मैथुन संबंधी अष्टक का उल्लेख किया गया था, वस्तुतः उन्होंने माँस, मदिरा तथा मैथुन इन तीन विषयों पर तीन अष्टकों की रचना की है मनुस्मृति के उस विधान को ध्यान में रखते हुए कि “न माँसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥” (अष्टक १८, १९, २०) चर्चा रोचक है और एक तटस्थ पाठक को वह इस बात का स्पष्ट आभास दे पाती है कि प्रस्तुत प्रश्न पर जैन तथा ब्राह्मण परंपराओं के बीच मतभेद का आधार क्या था ।

अभी ऊपर जिन अष्टकों की ओर इंगित किया गया है वे वे हैं जिनमें परमत-खंडन की प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रबल है और इसीलिए जो आचार्य हरिभद्र का मुख्य आशय समझने के मार्ग में एक तटस्थ पाठक के लिए थोड़ा बाधक सिद्ध हो सकते हैं । क्योंकि जैसा कि प्रारंभ में ही कहा गया था आचार्य हरिभद्र के अधिकांश ग्रंथों की—तथा प्रस्तुत ग्रंथ की—दो ध्यान आकृष्ट करने वाली विशेषताएँ हैं उदात्त आचरण की आवश्यकता पर भार तथा परमत-सहिष्णुता । उक्त संभव बाधाएँ पार कर लेने के बाद आचार्य हरिभद्र के प्रस्तुत ग्रंथ के एक तटस्थ पाठक का मार्ग प्रायः प्रशस्त हो जाना चाहिए ।

अब इन ३२ अष्टकों की विषय-वस्तु पर एक एक करके विहंगावलोकन कर लिया जाए :

(१) महादेव

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने उन सभी व्यक्तियों को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है—उन्हें ‘महादेव’ यह नाम देकर—जो उनकी दृष्टि में एक आदर्श कोटि की आचारशीलता से सम्पन्न हैं तथा जिन्होंने अपनी इस प्रकार की आचारशीलता के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त कर ली है । इस अष्टक से जाना जा सकेगा कि किस प्रकार की आचारशीलता को आचार्य हरिभद्र आदर्श कोटि में गिनते हैं ।

(२) स्नान

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि जल की सहायता से शरीर के मैल का नाश कर देने वाले स्नान की अपनी सीमित उपयोगिता होते हुए भी वास्तविक स्नान—अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से उपादेय स्नान—वह है जिसमें ध्यान रूपी जल की सहायता से ‘कर्म’ रूपी मैल का नाश

किया जाता है ।

(३) पूजा

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि साधारण पुष्पों की सहायता से एक देव-मूर्ति की की जाने वाली पूजा की अपनी सीमित उपयोगिता होते हुए भी वास्तविक पूजा—अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से उपादेय पूजा—वह है जिसमें अहिंसा, सत्य, अ-चौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, गुरुभक्ति, तप तथा ज्ञान इन आठ चरित्र-सद्गुणों का संपादन किया जाता है ।

(४) अग्नि-कर्म (हवन)

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि साधारण ईंधन वाली अग्नि में साधारण आहुति देकर किए जाने वाले हवन की अपनी सीमित उपयोगिता होते हुए भी वास्तविक हवन—अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से उपादेय हवन—वह है जिसमें 'कर्म' रूपी ईंधन को जलाने वाले धर्म-ध्यान रूपी अग्नि में शुद्ध मनोभावना रूपी आहुति दी जाती है ।

(५) भिक्षा

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा को तीन प्रकार की बतलाया है—पहली वह जो एक सच्चा साधु माँगता है, दूसरी वह जो एक झूठा साधु माँगता है, तीसरी वह जो अन्यथा जीविकोपार्जन करने में असमर्थ एक व्यक्ति माँगता है ।

(६) सर्वसम्पत्करी भिक्षा

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने उस भिक्षा के संबंध में उठाई गई एक आपत्ति का निवारण किया है जो उनके मतानुसार सर्वश्रेष्ठ प्रकार की है—तथा जिसे उन्होंने 'सर्वसम्पत्करी भिक्षा' यह नाम दिया है । आचार्य हरिभद्र का कहना है कि आदर्श भिक्षा एक ऐसी वस्तु की भिक्षा है जिसे तैयार करते समय भिक्षा-दाता ने यह संकल्प न किया हो कि वह भिक्षार्थियों को दी जाने के लिए है, लेकिन विरोधी की आपत्ति है कि ऐसी कोई वस्तु भिक्षा में दी ही नहीं जा सकती । आचार्य हरिभद्र का समाधान है कि यदि एक भिक्षा-दाता अपने उपयोग के लिए तैयार की गई किसी वस्तु के एक भाग के संबंध में यह संकल्प करे कि वह भिक्षार्थियों को दी जाने के लिए

है तो कोई दोष नहीं—अर्थात् दोष तब है जब यह भिक्षा-दाता इस प्रकार का संकल्प एक ऐसी वस्तु के संबंध में करे जो उसके अपने उपयोग के लिए नहीं तैयार की गई ।

(७) एकान्त भोजन

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने अपनी इस मान्यता के पक्ष में तर्क उपस्थित किया है कि एक साधु को भोजन एकान्त में करना चाहिए । दो शब्दों में उनका तर्क यह है कि खुले में भोजन करने पर यह संभव है दरिद्र लोग साधु से भोजन माँगने आ जाएँ—जबकि इन दरिद्र लोगों को भोजन देने पर यह साधु शुभ 'कर्म' का अर्जन करेगा तथा उन्हें भोजन न देने पर अशुभ 'कर्म' का (जो दोनों ही परिस्थितियाँ इस साधु के पुनर्जन्म का कारण बनेगी) ।

(८) प्रत्याख्यान

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यान के चार संभव दोषों को गिनाया है, उस प्रत्याख्यान के जो जैन-परंपरा में स्वीकृत एक धार्मिक क्रिया है तथा जिसका स्वरूप है एक व्यक्ति द्वारा पाप-विरति का संकल्प किया जाना । उक्त चार दोष ये हैं (१) प्रत्याख्यान के पीछे किसी अपेक्षा (= सांसारिक कामना) का होना, (२) प्रत्याख्यान को शास्त्रोक्त विधि के अनुसार न करना, (३) प्रत्याख्यान के अवसर पर सच्ची त्यागभावना का मन में उदय न होना; (४) प्रत्याख्यान के अवसर पर घोर प्रयत्नशीलता का मन में अभाव होना ।

(९) ज्ञान

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने ज्ञान को तीन प्रकार का बतलाया है—पहला वह जो वस्तुओं के स्वरूप मात्र की प्रतीति कराता है उनके गुण-दोषों की नहीं, दूसरा वह जो वस्तुओं के गुणदोषों की भी प्रतीति कराता है लेकिन जो एक व्यक्ति को इतनी सामर्थ्य नहीं देता कि वह भले कामों को कर सके तथा बुरे कामों से बच सके, तीसरा वह जो एक व्यक्ति को इतनी सामर्थ्य भी देता है कि वह भले कामों को कर सके तथा बुरे कामों से बच सके ।

(१०) वैराग्य

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने वैराग्य को तीन प्रकार का बतलाया है—पहला वह जो उस व्यक्ति को होता है जिसका अपनी प्रिय किसी सांसारिक वस्तु से वियोग हो गया है अथवा अपनी अप्रिय कोई सांसारिक वस्तु जिसके सिर पड़ गई है, दूसरा वह जो इस व्यक्ति को होता है जिसकी त्याग-भावना तो सच्ची है लेकिन जिसे सच्चा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं, तीसरा वह जो उस व्यक्ति को होता है जिसे सच्चा तत्त्व-ज्ञान भी प्राप्त है ।

(११) तप

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने विरोधी मत का खंडन करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया है कि तप का सार-स्वरूप दुःखानुभूति नहीं, भले ही इस तप का एक संभव भाग इस प्रकार की दुःखानुभूति क्यों न हो ।

(१२) वाद

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने वाद को तीन प्रकार का बतलाया है—पहला एक पापी व्यक्ति के साथ होने वाला वाद, दूसरा किसी सांसारिक लाभ के इच्छुक एक व्यक्ति के साथ होने वाला वाद, तीसरा एक सद-धार्मिक व्यक्ति के साथ होने वाला वाद ।

(१३) धर्मवाद

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि 'धर्मवाद' का—जो उनके मतानुसार वाद का सर्वश्रेष्ठ प्रकार है—विषय क्या होना चाहिए और क्या नहीं । उनके मतानुसार धर्मवाद का विषय होना चाहिए यह प्रश्न कि तत्त्वज्ञान-विषयक किन मान्यताओं को स्वीकार करने पर मोक्ष-साधनों का सम्पादन संभव बना रहता है तथा किन्हें स्वीकार करने पर नहीं । दूसरी ओर उनका मत है कि 'प्रमाण का लक्षण क्या है ?' यह तथा इस प्रकार के प्रश्न धर्मवाद के विषय नहीं होने चाहिए ।

(१४) एकांगी नित्यत्ववाद का खंडन

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने यह सिद्ध किया है कि एकांगी नित्यत्ववाद को स्वीकार करने पर मोक्ष-साधनों का सम्पादन किस प्रकार असंभव बन जाता है । संक्षेप में उनका तर्क यह है कि जो विचारक आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तिष्ण मानता है उसके मतानुसार न तो कोई किसी को मारता

है न कोई किसी के द्वारा मारा जाता है—अर्थात् उसके मतानुसार हिंसा (अतः अहिंसा) एक असंभव बात सिद्ध होती है । लेकिन मोक्ष का प्रधान साधन है अहिंसा जबकि अहिंसा के सहायक सद्गुण हैं सत्य, अ-चौर्य, ब्रह्मचर्य आदि, और ऐसी दशा में जिस विचारक के मतानुसार अहिंसा एक असंभव बात है उसके मतानुसार इन मोक्ष-साधनों का संपादन भी एक असंभव बात—अथवा एक बेकार की बात—होनी चाहिए ।

(१५) एकांगी अनित्यत्ववाद का खंडन

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने यह सिद्ध किया है कि एकांगी अनित्यत्ववाद को स्वीकार करने पर मोक्ष-साधनों का संपादन किस प्रकार असंभव बन जाता है । संक्षेप में उनका तर्क यह है कि जो विचारक नाश को निर्हेतुक मानता है—और एकांगी अनित्यत्ववादी (= क्षणिकवादी) ऐसा मानता ही है—उसके मतानुसार भी कोई किसी को मार नहीं सकता—अर्थात् उसके मतानुसार भी हिंसा (अतः अहिंसा) एक असंभव बात सिद्ध होती है । और तब मोक्ष-साधनों का संपादन प्रस्तुत मत में भी उसी प्रकार एक असंभव बात—अथवा एक बेकार की बात—हो जानी चाहिए जैसे कि वह एकांगी नित्यत्ववाद में हो जाती है ।

(१६) नित्यानित्यत्ववाद का समर्थन

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने यह सिद्ध किया है कि नित्यानित्यत्ववाद को—जो एक जैन दार्शनिक मान्यता है—स्वीकार करने पर मोक्ष-साधनों का सम्पादन किस प्रकार संभव बन जाता है । उनका सीधा तर्क यह है कि जब एकांगी नित्यत्ववाद तथा एकांगी अनित्यत्ववाद दोनों अ-संगत मान्यताएँ हैं तब नित्यानित्यत्ववाद ही एक सुसंगत मान्यता होनी चाहिए ।

(१७) माँस-भक्षण के दोष

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने इस तर्क का खंडन किया है कि “एक व्यक्ति को माँस खाना चाहिए, क्योंकि वह एक प्राणी के शरीर का भाग है, उसी प्रकार जैसे चावल” । आचार्य हरिभद्र का उत्तर है कि माँस का एक प्राणी के शरीर का भाग होना न होना माँस-भक्षण के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क नहीं, और वह इसलिए कि माँस-भक्षण के विपक्ष में वास्तविक तर्क है माँस में सूक्ष्म जीवों का होना ।

(१८) माँस-भक्षण के दोष

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र मनु के इस विधान का खंडन प्रारंभ करते हैं कि “न माँसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥” माँस-भक्षण के संबंध में आचार्य हरिभद्र का तर्क है कि जब ब्राह्मण-परंपरा के ही ग्रंथों में माँस-भक्षण की निन्दा पाई जाती है तथा जब इन ग्रंथों में किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही माँस-भक्षण को वैद्य (अथवा अवश्यकरणीय) ठहराया गया है तब मनु का ‘न माँसभक्षणे दोषः’ जैसा दो-टूक विधान उचित नहीं ।

(१९) मदिरा-पान के दोष

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र एक दृष्टान्त की सहायता से यह सिद्ध करते हैं कि मदिरा-पान से एक व्यक्ति की सदबुद्धि का नाश कैसे हो जाता है। यहाँ भी उनके मन में पूर्वपक्ष रूप से मनु का वही विधान है कि ‘न माँसभक्षणे दोषो न मद्ये’ ।

(२०) मैथुन के दोष

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र सिद्ध करते हैं कि मैथुन अनर्थकारी कैसे। और क्योंकि मैथुन गृहस्थाश्रम में ही संभव है वे यह कहना भी आवश्यक समझते हैं कि गृहस्थाश्रम एक निंदनीय जीवनावस्था है। इतना ही नहीं, वे यह भी सिद्ध करते हैं कि स्वयं ब्राह्मण-परंपरा गृहस्थाश्रम को एक निंदनीय जीवनावस्था मानती है—उस आधार पर कि यह परंपरा कहती है कि ‘एक व्यक्ति वेदाध्ययन करके ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे’ न कि यह कि ‘एक व्यक्ति वेदाध्ययन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ही’ । यहाँ भी आचार्य हरिभद्र के मन में पूर्वपक्ष रूप से मनु का वही विधान है कि ‘न माँसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने’ ।

(२१) धर्म संबंधी विचार में सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने इस आवश्यकता पर भार दिया है कि धर्म संबंधी—अर्थात् सदाचरण संबंधी प्रश्नों पर विचार सूक्ष्म बुद्धि से किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा ले कि वह रोगियों की चिकित्सा करायेगा और जब उसे कोई रोगी न मिले तब वह अपने दुर्भाग्य को कोसे तो यह उस व्यक्ति की स्थूल बुद्धि का परिचय हुआ ।

(२२) मनोभावनाओं की शुद्धि

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि मनोभावनाओं की शुद्धि का सबसे बड़ा साधन है एक व्यक्ति का अपने को अपने से अधिक गुणियों का आज्ञावर्ती बनाना । जबकि मनोभावनाओं की शुद्धि के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक है एक व्यक्ति का अपने आग्रहों पर चिपके रहना ।

(२३) शास्त्र की प्रतिष्ठा गिराने वाले आचरण की निन्दा

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि एक जैन अपनी धर्मपरंपरा की प्रतिष्ठा गिराने वाले आचरण के फलस्वरूप पाप का भागी कैसे बनता है तथा इस धर्म-परंपरा की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले आचरण के फलस्वरूप पुण्य का भागी कैसे ।

(२४) 'पुण्य को जन्म देने वाला पुण्य' आदि

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने एक व्यक्ति के क्रिया-कलाप को चार प्रकार का बतलाया है—पहला वह जो पुण्य को जन्म देने वाले पुण्य का जनक है, दूसरा वह जो पाप को जन्म देने वाले पुण्य का जनक है, तीसरा वह जो पाप को जन्म देने वाले पाप का जनक है, चौथा वह जो पुण्य को जन्म देने वाले पाप का जनक है । स्पष्ट ही इनमें से पहले प्रकार का क्रिया-कलाप सर्वोत्कृष्ट है (तथा तीसरे प्रकार का क्रिया-कलाप सर्व-निकृष्ट) ।

(२५) पुण्य को जन्म देने वाले पुण्य का प्रधान फल

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि सर्वोत्कृष्ट प्रकार के शुभ क्रिया-कलाप के फलस्वरूप एक व्यक्ति को यह सौभाग्य प्राप्त होता है कि वह अपने अन्तिम जन्म में तीर्थंकर बने । और तीर्थंकर महावीर की मातृगर्भावास—कालीन प्रतिज्ञा को—जिसमें माता-पिता के प्रति गहरी भक्ति-भावना का सूचन है—दृष्टान्त बनाकर आचार्य हरिभद्र ने यहाँ यह सिद्ध किया है कि एक तीर्थंकर अपने मातृगर्भावास-काल से ही उदात्त मनोभावनाओं का प्रदर्शन करने लगते हैं ।

(२६) तीर्थंकर का दान सचमुच महान् है

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने इस आपत्ति का निवारण किया है कि जब जैन धर्म-ग्रंथ कहते हैं कि अमुक तीर्थंकर ने अमुक संख्या में दान

दिया तब यह दान महान दान कैसे (क्योंकि 'महान् दान' कहलाए जाने का अधिकारी संख्याबद्ध दान नहीं संख्यातीत दान होता है) । आचार्य हरिभद्र का समाधान है कि एक तीर्थकर का दान संख्या वाला इसलिए नहीं की वे इससे अधिक दान दे नहीं सकते थे बल्कि इसलिए कि इससे अधिक दान की लोगों को आवश्यकता न थी ।

(२७) तीर्थकर का दान निष्फल नहीं

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने इस आपत्ति का निवारण किया है कि जब एक तीर्थकर अपने इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करने जा रहे हैं तब वे दान आदि शुभ क्रिया-कलाप क्यों करते हैं । आचार्य हरिभद्र का एक समाधान यह है कि उक्त प्रकार के शुभ क्रिया-कलाप करना एक तीर्थकर का स्वभाव ही है और दूसरा यह कि उक्त प्रकार के शुभ क्रिया-कलाप करके एक तीर्थकर लोक साधारण के सामने एक आदर्श उपस्थित करते हैं ।

(२८) राज्य का दान आदि करने पर भी तीर्थकर दोष के भागी नहीं

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने इस आपत्ति का निवारण किया है कि जब राज्य-पालन आदि सांसारिक क्रिया-कलाप जैनों की दृष्टि में पाप का स्थल हैं तब तीर्थकरों के संबंध में यह क्यों सुना जाता है कि उन्होंने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपा आदि । आचार्य हरिभद्र का समाधान है कि राज्यपालन आदि क्रिया-कलाप पाप के स्थल अवश्य हैं लेकिन वे किन्हीं और भी बड़े पापों से रक्षा का साधन भी सिद्ध होते हैं ।

(२९) सामायिक का स्वरूप

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध किया है कि जिस आदर्श आचरण-मार्ग का प्रतिपादन जैन धर्म-ग्रंथों में किया गया है—तथा जिसका पारिभाषिक नाम 'सामायिक' है वही एक वस्तुतः आदर्श आचरण-मार्ग है । और एक बौद्ध को एक अभिलाषोक्ति को दृष्टान्त बनाकर उन्होंने यहाँ यह भी सिद्ध किया है कि बौद्ध-परंपरा द्वारा आदर्श रूप से कल्पित आचरण-मार्ग एक वस्तुतः आदर्श आचरण-मार्ग नहीं ।

(३०) केवल (सर्वविषयक) ज्ञान

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र ने इस जैन मान्यता को प्रस्तुत किया

है कि मोक्ष-प्राप्ति से कुछ समय पूर्व—अर्थात् अपने 'घाती कर्मों'* का नाश होते ही—एक व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। आचार्य हरिभद्र का कहना है कि सर्वज्ञता एक आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है लेकिन 'कर्म' रूपी मैल उसे अनादि काल से ढँके हुए होता है—जबकि इस मैल का नाश होते ही यह सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। साथ ही वे इस बात का स्पष्टीकरण आवश्यक समझते हैं कि सर्वविषयक ज्ञान आत्मा में रहते हुए ही अपने विषयों का ग्रहण करता है न कि उन विषयों के निकट पहुँच पहुँच कर।

(३१) तीर्थकर का धर्मोपदेश

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र बतलाते हैं कि धर्मोपदेश करना तीर्थकर का एक मुख्य कार्य है तथा यह कि तीर्थकर का यह धर्मोपदेश किन विशेषताओं से सम्पन्न होता है। इस धर्मोपदेश की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाई गई है कि वह एक होते हुए भी अनेक श्रोताओं को उनकी अपनी अपनी आवश्यकतानुसार सद्बुद्धि प्रदान करता है।

(३२) मोक्ष

इस अष्टक में आचार्य हरिभद्र मोक्ष का स्वरूप वर्णन करते हैं और विशेष रूप से इस आपत्ति का निवारण करते हैं कि जब मोक्षावस्था में अन्न, पान आदि का भोग संभव नहीं तब यह अवस्था सर्वोत्कृष्ट सुख की अवस्था कैसे। आचार्य हरिभद्र का समाधान है कि मोक्षावस्था में होने वाला सुख एक विलक्षण प्रकार का सुख है तथा उसकी तुलना किसी सांसारिक सुख से—उदाहरण के लिए, अन्न, पान आदि के भोग से उत्पन्न सुख से—नहीं की जा सकती।

इन अष्टकों के आद्योपान्त अध्ययन से एक पाठक के निकट आचार्य हरिभद्र का आशय और भी स्पष्ट हो जाना चाहिए।

'अष्टक' के प्रस्तुत संस्करण में मूल संस्कृत कारिकाओं के साथ उनका हिंदी अनुवाद तथा मूल का आशय स्पष्ट करने वाली कतिपय टिप्पणियाँ भी दी जा रही हैं। अनुवाद के कोष्ठक-अन्तर्गत भागों के संबंध में ध्यान रखना

★ जैन कर्म-शास्त्र की मान्यतानुसार 'कर्म' आठ प्रकार के होते हैं जिनमें से चार जो विशेष रूप से अनर्थकारी हैं 'घाती' कहलाते हैं तथा शेष चार 'अघाती'।

है कि जहाँ वे 'अथवा' से प्रारंभ होते हैं वहाँ मूल के शब्दों का एक दूसरा अनुवाद दिया जा रहा है और जहाँ 'अर्थात्' से वहाँ कोष्ठक-पूर्ववर्ती बात का ही स्पष्टीकरण अथवा विशदीकरण किया जा रहा है । टिप्पणियों में निर्दिष्ट 'टीकाकार' से आशय है जिनेश्वरसूरि से जिन्होंने 'अष्टक' पर टीका लिखी है तथा जिनकी इस टीका को उनके शिष्य अभयदेवसूरि ने 'प्रतिसंस्कृत' किया है ।



महादेव

यस्य संक्लेशजननो रागो नास्त्येव सर्वथा ।

न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमैधनदवानलः ॥१॥

न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छदनोऽशुद्धवृत्तकृत् ।

त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते ॥२॥

चित्त को संक्लिष्ट अर्थात् अस्वस्थ बनाने वाले राग से जो व्यक्ति सर्वथा ही शून्य है, प्राणिवर्ग के प्रति उस द्वेष से भी जो व्यक्ति सर्वथा ही शून्य है, जो चित्त की शान्ति रूपी ईधन के लिए दावानल जैसा है, शोभन ज्ञान को आच्छादित कर देने वाले तथा अशुद्ध आचरण कराने वाले मोह से भी जो व्यक्ति सर्वथा ही शून्य है, तीनों लोकों में जिस व्यक्ति की महिमा प्रसिद्ध है वही व्यक्ति महादेव कहलाता है ।

(टिप्पणी) इन कारिकाओं से जाना जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र उन सभी व्यक्तियों को 'महादेव' यह नाम देने को तैयार हैं जिनमें राग, द्वेष तथा मोह इन तीन प्रधान चरित्र-दोषों का सर्वथा अभाव है ।

यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः ।

क्लिष्टकर्मकलातीतः सर्वथा निष्कलस्तथा ॥३॥

यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वयोगिनाम् ।

यः स्रष्टा सर्वनीतीनां महादेवः स उच्यते ॥४॥

जो व्यक्ति वीतराग है, सर्वज्ञ है, शाश्वत सुख से सम्पन्न है, जो व्यक्ति क्लिष्ट अर्थात् संसार-चक्र में फंसाने वाले 'कर्मों' के रंच से भी मुक्त है तथा जो (कालांतर में) सभी प्रकार के 'कर्मों' के रंच से भी मुक्त है (अथवा जो व्यक्ति संसार-चक्र में फंसाने वाले—अर्थात् सभी प्रकार के 'कर्मों' के रंच से भी मुक्त है तथा जो सभी प्रकार के शरीरावयवों से रहित है), जिस व्यक्ति की सब देवता पूजा करते हैं, जिसका सब योगी ध्यान करते हैं, जो व्यक्ति सभी

आचार-मार्गों का (अथवा सभी चिंतन-मार्गों का) प्रणेता है वही व्यक्ति महादेव कहलाता है ।

(टिप्पणी) यहाँ तीसरी कारिका में आए विशेषणों को समझने के लिए जैन-परंपरा की दो एक मान्यताएँ जान लेना आवश्यक है । 'वीतराग' इस शब्द का अर्थ करना चाहिए 'राग, द्वेष, मोह से सर्वथा मुक्त व्यक्ति' और जैन-परंपरा की मान्यतानुसार ऐसा व्यक्ति सर्वज्ञ होता है । दूसरे, यह परंपरा मानती है कि एक व्यक्ति के पुनर्जन्म के कारणभूत 'कर्म' आठ प्रकार के होते हैं । जिनके नाम हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र, आयु तथा वेदनीय और जिन में से पहले चार का सर्वथा क्षय एक संसारस्थ 'वीतराग' व्यक्ति कर चुका होता है जबकि शेष चार का क्षय होते ही वह व्यक्ति शरीर-त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । तीसरे, इस परंपरा की मान्यतानुसार मोक्षावस्था एक अनूठे प्रकार के सदा-स्थायी सुख की अवस्था है । अतः प्रस्तुत तीसरी कारिका में आया 'शाश्वतसुखेश्वरः' यह विशेषण एक मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति पर ही लागू होता है लेकिन 'क्लिष्टकर्मकलातीतः' तथा 'सर्वथा निष्कलः' इन दो विशेषणों के संबंध में समझना है कि उपरोक्त पहला अर्थ स्वीकार करने पर इनमें से पहला एक संसारस्थ 'वीतराग' व्यक्ति पर लागू होता है तथा दूसरा एक मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति पर जबकि उपरोक्त दूसरा अर्थ स्वीकार करने पर ये दोनों एक मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति पर लागू होते हैं ।

एवं सद्वृत्तयुक्तेन येन शास्त्रमुदाहृतम् ।

शिववर्त्म परं ज्योतिस्त्रिकोटीदोषवर्जितम् ॥ ५ ॥

उक्त प्रकार से सदाचरण-संपन्न जिस व्यक्ति ने ऐसे शास्त्र का उपदेश किया है जो मोक्ष के मार्ग जैसा है, जो परम प्रकाश जैसा है, जो तीनों प्रकारों से (अर्थात् आदि, मध्य, अन्त में अथवा कसौटी पर कसा जाने पर, काटा जाने पर, तपाया जाने पर) दोष-रहित उहरता है (वही व्यक्ति महादेव कहलाता है) ।

(टिप्पणी) कहने की आवश्यकता नहीं कि शास्त्रोपदेश करना एक संसारस्थ 'वीतराग' व्यक्ति के लिए ही संभव है—एक मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति के लिए नहीं । अतएव प्रस्तुत कारिका में इस व्यक्ति को 'सद्वृत्तयुक्त' यह विशेषण दिया गया है, क्योंकि मोक्षावस्था में सद्-असद् वर्तन (= आचरण) का प्रश्न ही नहीं उठता । 'कसौटी पर कसना, काटना, तपाना' ये वे तीन परीक्षाएँ हैं जिनकी सहायता से धातु-विशेषज्ञ एक धातु के खरे-खोटेपन की

जाँच करते हैं; अतएव एक शास्त्र का खरा-खोटपन जाँचने की विविध परीक्षाओं को रूपक की भाषा में 'कसौटी पर कसना', 'काटना' अथवा 'तपाना' कहा जा सकता है ।

यस्य चाराधनोपायः सदाज्ञाभ्यास एव हि ।

यथाशक्ति विधानेन नियमात् स फलप्रदः ॥६॥

जिस व्यक्ति की आराधना करने का एकमात्र उपाय है उसके द्वारा दिए आदेशों का सदा पालन करना (अथवा उसके द्वारा दिए गए शोभन आदेशों का पालन करना)—और यह आदेश-पालन ऐसा है कि उसका शक्ति भर तथा विधिपूर्वक संपादन अवश्य ही फलदायी सिद्ध होता है—(वही व्यक्ति महादेव कहलाता है) ।

सुवैद्यवचनाद् यद्वद्व्याधेर्भवति संक्षयः ।

तद्वदेव हि तद्वाक्याद् ध्रुवः संसारसंक्षयः ॥७॥

जिस प्रकार एक योग्य वैद्य के वचन से (अर्थात् उस वचन के पालन से) रोग का सर्वनाश होता है उसी प्रकार (महादेव कहलाए जाने योग्य) प्रस्तुत व्यक्ति के वचन से संसार-चक्र का संपूर्ण नाश होता है ।

एवंभूताय शान्ताय कृतकृत्याय धीमते ।

महादेवाय सततं सम्यग्भक्त्या नमोनमः ॥८॥

उक्त स्वरूप वाले, शान्त चित्त वाले, अपने सब करणीयों को कर चुकने वाले, श्रेष्ठ बुद्धि वाले महादेव को समुचित भक्तिपूर्वक हमारा सतत नमस्कार है ।



स्नान

द्रव्यतो भावतश्चैव द्विधा स्नानमुदाहृतम् ।

बाह्यमाध्यात्मिकं चेति तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥१॥

स्नान दो प्रकार का कहा गया है—एक द्रव्य-स्नान (= भौतिक स्नान), दूसरा भाव-स्नान (= मानसिक स्नान) । स्नान के इन्हीं दो प्रकारों को दूसरे शास्त्रकारों ने 'बाह्य स्नान' तथा 'आध्यात्मिक स्नान' ये दो नाम दिए हैं ।

(टिप्पणी) एक मनुष्य द्वारा संपादित की जाने वाली क्रियाओं को—वस्तुतः शोभन क्रियाओं को—दिए गए 'द्रव्यतः' तथा 'भावतः' ये दो विशेषण जैन-परंपरा में पारिभाषिक हैं । दो शब्दों में कहा जा सकता है कि एक शोभन क्रिया को केवल औपचारिक रूप से कर लेना उस क्रिया को 'द्रव्यतः' करना है जबकि उसे मनःशुद्धिपूर्वक करना उसे 'भावतः' करना है । शोभन क्रियाओं के उस द्विविध विभाजन का उपयोग आचार्य हरिभद्र ने अनेकों स्थलों पर केवल आलंकारिक रूप से किया है—और ऐसा करके उन्होंने इस विभाजन का अर्थ थोड़ा अधिक विस्तृत कर दिया है । यह कहना इसलिए होगा कि कतिपय शोभन क्रियाओं के संबंध में—उदाहरण के लिए, स्नान, पूजा, हवन के संबंध में—आचार्य हरिभद्र का भार इस बात पर नहीं है कि वे मनःशुद्धिपूर्वक की जानी चाहिए बल्कि इस बात पर कि उनके स्थान पर मनःशुद्धि की जानी चाहिए, और उन उन रूपकों की सहायता से मनःशुद्धि का वर्णन करके वे कहते हैं कि अमुक प्रकार की मनःशुद्धि 'भावतः किया गया स्नान' है, अमुक प्रकार की मनःशुद्धि 'भावतः की गई पूजा', 'अमुक प्रकार की मनःशुद्धि 'भावतः किया गया हवन' । हाँ, द्रव्यतः—अर्थात् केवल औपचारिक रूप से—किए गए स्नान, पूजा, हवन को सीमित—वस्तुतः अत्यन्त सीमित—उपयोगिता को भी आचार्य हरिभद्र ने प्रसंगवश स्वीकार अवश्य किया है ।

जलेन देहदेशस्य क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।

प्रायोऽन्यानुपरोधेन द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥२॥

जल की सहायता से शरीर के किसी भाग की क्षण भर के लिए शुद्धि जिस स्नान से प्रायः हो जाया करती है लेकिन जिस स्नान से अन्य किसी मैल का नाश नहीं होता (अथवा 'और जिस स्नान में जलगत प्राणियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के प्राणियों की हिंसा प्रायः नहीं होती'*) वह द्रव्यस्नान कहलाता है ।

(टिप्पणी) जब द्रव्य-स्नान के संबंध में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि उससे अन्य किसी मैल का नाश नहीं होता तब उनका आशय यह प्रतीत होता है कि द्रव्य-स्नान से 'मन की अशुद्धि' रूपी मैल का नाश नहीं होता । लेकिन टीकाकार के मतानुसार आचार्य हरिभद्र यहाँ यह कह रहे हैं कि द्रव्य-स्नान से उसी शरीर-भाग के मैल का नाश होता है जहाँ पानी डाला जाता है—न कि किसी अन्य शरीर-भाग के मैल का (उदाहरण के लिए, शरीर के भीतरी अवयवों के मैल का) ।

कृत्वेदं यो विधानेन देवतातिथिपूजनम् ।
करोति मलिनारंभी तस्यैतदपि शोभनम् ॥३॥
भावशुद्धिनिमित्तत्वात् तथानुभवसिद्धितः ।
कथंचिद्दोषभावेऽपि तदन्यगुणभावतः ॥४॥

इस प्रकार के स्नान को करके देवता तथा अतिथि की विधिपूर्वक पूजा यदि कोई मल-मलिन जीवन-चर्या वाला व्यक्ति (अर्थात् कोई गृहस्थ व्यक्ति) करता है तो ऐसे व्यक्ति का ऐसा स्नान भी शुभ ही है । इसका कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति का ऐसा स्नान उस व्यक्ति की मनःशुद्धि का कारण बनता है और यह बात कि यह स्नान इस व्यक्ति की मनःशुद्धि का कारण बनता है इस व्यक्ति को अनुभव होता है । जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रस्तुत प्रकार का स्नान कुछ दोषों वाला होते हुए भी कुछ दूसरे गुणों वाला भी है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिकाओं में देखा जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र द्रव्य-स्नान की सीमित उपयोगिता को प्रसंगवश स्वीकार कर रहे हैं । यहाँ एक गृहस्थ व्यक्ति को मल-मलिन जीवन-चर्या वाला व्यक्ति इसलिए कहा गया है कि गृहस्थावस्था में रहकर पापों से सर्वथा बचना संभव नहीं ।

★ इस दूसरे अर्थ में 'प्रायोऽन्यानुपरोधेन' इतना पद-समूह एक साथ लिया जाएगा ।

अधिकारिवशात् शास्त्रे धर्मसाधनसंस्थितिः ।
व्याधिप्रतिक्रियातुल्या विज्ञेया गुणदोषयोः ॥५॥

जहाँ तक धर्म-संपादन के साधनों में (उदाहरण के लिए, द्रव्य-स्नान तथा भाव-स्नान में) पाए जाने वाले गुण-दोषों का प्रश्न है उसके संबंध में हमें समझ रखना चाहिए कि शास्त्र में इन साधनों की व्यवस्था उन उन अधिकारियों की योग्यता को ध्यान में रखकर की गई है—उसी प्रकार जैसे रोग-चिकित्सा की व्यवस्था (रोगियों की दशा को ध्यान में रखकर) की जाती है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि एक 'मलिनारंभी' व्यक्ति के लिए द्रव्य-स्नान भी उपयोगी क्यों ? (जबकि दूसरे व्यक्तियों के लिए—अर्थात् गृह-त्यागी भिक्षुओं के लिए—केवल भाव-स्नान ही उपयोगी है) ।

ध्यानांभसा तु जीवस्य सदा यच्छुद्धि-कारणम् ।
मलं कर्म समाश्रित्य भावस्नानं तदुच्यते ॥६॥

दूसरी ओर, ध्यान रूपी जल की सहायता से तथा 'कर्म' रूपी मैल को लक्ष्य बनाकर संपादित की जाने वाली आत्मा की शुद्धि का कारण जो स्नान सदा बनता है वह भाव-स्नान कहलाता है ।

(टिप्पणी) देखा जा सकता है कि प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र केवल यह कह रहे हैं कि एक व्यक्ति को ध्यान की सहायता से अपने पूर्वार्जित 'कर्मों' से मुक्ति पानी चाहिए, लेकिन ध्यान की तुलना जल से तथा 'कर्मों' की तुलना मैल से करके वे पाठक के मन पर यह छाप छोड़ना चाहते हैं जैसे मानों यहाँ किसी प्रकार के स्नान का वर्णन किया जा रहा है ।

ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः ।
हिंसादोषनिवृत्तानां व्रतशीलविवर्धनम् ॥७॥

महर्षियों का कहना है कि उत्तम कोटि का भाव-स्नान वह भाव-स्नान जो व्रत एवं शील को बढ़ाने वाला है—वे ऋषि ही किया करते हैं जो हिंसा रूपी दोष से मुक्त हैं (अथवा हिंसारूपीदोष से मुक्त ऋषि भाव-स्नान को ही—उस भाव-स्नान को जो व्रत एवं शील को बढ़ाने वाला है—उत्तम कोटि का मानते हैं) ।

(टिप्पणी) टीकाकार के मतानुसार यहाँ 'व्रत' का अर्थ है 'महाव्रत' (अर्थात् निरपवाद रूप से आचरित अहिंसा, सत्य, अ-चौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति) तथा 'शील' का अर्थ है 'समाधि', अथवा यहाँ 'व्रत' का अर्थ है वे चारित्रिक सदगुण जिन्हें जैन-परंपरा 'मूल गुण' इस नाम से गिनाती है तथा 'शील'का अर्थ वे जिन्हें वह 'उत्तरगुण' इस नाम से गिनती है ।

स्नात्वाऽनेन यथायोगं निःशेषमलवर्जितः।

भूयो न लिप्यते तेन स्नातकः परमार्थतः ॥८॥

इस प्रकार का भाव-स्नान विधिपूर्वक करने से एक व्यक्ति सभी मलिनताओं से मुक्त हो जाता है और ऐसा व्यक्ति—जो ही सच्चा स्नान करने वाला है—दुबारा मलिनताओं से लिप्त नहीं होता ।

(टिप्पणी) टीकाकार के मतानुसार 'स्नात्वाऽनेन यथायोगम्' इस कारिका-भाग का एक संभव अर्थ है 'अपनी योग्यतानुसार द्रव्य-स्नान अथवा भाव-स्नान करने से' उस दशा में 'निःशेषमलवर्जितः' इस पद-समूह का अर्थ करना होगा 'सभी मलिनताओं से (क्रमशः अथवा तत्काल) मुक्त हो जाता है', क्योंकि समझ यह है कि द्रव्य-स्नान एक व्यक्ति की क्रमशः मुक्ति का कारण बनता है तथा भाव-स्नान उसकी तत्काल-मुक्ति का ।



पूजा

अष्टपुष्पी समाख्याता स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अशुद्धेतरभेदेन द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥१॥

अष्टपुष्पी (अर्थात् आठ—अथवा अधिक—फूलों से की जाने वाली) पूजा के संबंध में तत्त्ववेत्ताओं ने कहा है कि वह स्वर्ग एवं मोक्ष को दिलाने वाली है तथा वह दो प्रकार की होती है—एक अशुद्ध और दूसरी शुद्ध ।

(टिप्पणी) यहाँ आचार्य हरिभद्र 'अशुद्ध पूजा' के नाम से द्रव्य-पूजा का उल्लेख कर रहे हैं तथा 'शुद्धपूजा' के नाम से भाव-पूजा का, इनमें से पहली स्वर्ग दिलाने वाली सिद्ध होती है तथा दूसरी मोक्ष दिलाने वाली । यहाँ भी देखा जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र द्रव्य-पूजा की सीमित उपयोगिता को प्रसंगवश स्वीकार कर रहे हैं ।

शुद्धागमैर्यथालाभं प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि पुष्पैर्जात्यादिसंभवैः ॥२॥

अष्टपायविनिर्मुक्त तदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहृता ॥३॥

शुद्ध साधनों की सहायता से (अर्थात् वैध रीति से अर्जित धन आदि की सहायता से) तथा दूसरे के (अर्थात् विक्रेता के) लाभ को ध्यान में रखते हुए प्राप्त किए गए, पवित्र पात्र में रखे गए, ताजा, थोड़े (अर्थात् आठ) अथवा बहुत (अर्थात् आठ से अधिक) मालती आदि के फूलों से देवाधिदेव की जो अष्टपुष्पी पूजा की जाती है—उन देवाधिदेव की जो आठ प्रकार की ('कर्म' रूपी) बाधाओं से मुक्त हैं तथा इस मुक्ति के फलस्वरूप जिनमें उन उन सदगुणों का (अथवा एक विशिष्ट गुण-वैभव का) प्रादुर्भाव हुआ है वह अशुद्ध कही गई है ।

(टिप्पणी) देखा जा सकता है कि सर्वथा उचित प्रकार से संपादित की जाने वाली द्रव्य-पूजा भी आचार्य हरिभद्र के मतानुसार अशुद्ध है—भाव-

पूजा की तुलना में ।

संकीर्णैषा स्वरूपेण द्रव्याद् भावप्रसक्तितः ।

पुण्यबंधनिमित्तत्वाद् विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥४॥

इस प्रकार की अष्टपुष्पी पूजा मिश्रित स्वरूप वाली है क्योंकि उसके अवसर पर द्रव्य की (अर्थात् एक भौतिक द्रव्य की) सहायता से भाव की (अर्थात् देवाधिदेव के प्रति भक्ति-भावना की) उत्पत्ति हुआ करती है; इस पूजा के संबंध में समझना है कि वह शुभ 'कर्म'-बंध का कारण बनती है और इसीलिए स्वर्ग-प्राप्ति का साधन सिद्ध होती है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि मनःशुद्धिपूर्वक की गई द्रव्य-पूजा की सच्ची उपयोगिता इस बात में है कि वह मनःशुद्धि के लिए अवसर उपस्थित करती है; इसीलिए वे इसे 'स्वरूपेण संकीर्णा' कह रहे हैं । अगली कारिकाओं में हम उन्हें कहते पाएंगे कि भाव-पूजा स्वयं मनःशुद्धिरूप होती है—और इसीलिए उसे सर्वथा (अर्थात् अ-संकीर्ण रूप से) उपादेय माना जाना चाहिए । यहाँ इस बात पर एक बार फिर ध्यान देना चाहिए कि विशेष रूप से शोभन क्रिया-कलापों को आचार्य हरिभद्र दो भागों में बाँटते हैं—एक वे जो शुभ 'कर्म' बंध का कारण बनने के फलस्वरूप स्वर्ग दिलाने वाले सिद्ध होते हैं और दूसरे वे जो 'कर्म' नाश का कारण बनने के फलस्वरूप मोक्ष दिलाने वाले सिद्ध होते हैं (जहाँ तक विशेष रूप से अशोभन क्रिया-कलापों का संबंध है वे नरक दिलाने वाले सिद्ध होते हैं जबकि सामान्य कोटि के शोभन-अशोभन क्रिया-कलाप इसी लोक में अच्छ-बुरा फल दिलाने वाले सिद्ध होते हैं । यहाँ कारण है कि प्रस्तुत अष्टक की पहली कारिका में आचार्य हरिभद्र का अभिप्राय था कि द्रव्य-पूजा स्वर्ग दिलाने वाली सिद्ध होती है तथा भाव-पूजा मोक्ष दिलाने वाली ।

या पुनर्भावजैः पुष्यैः शास्त्रोक्तिगुणसंगतैः ।

परिपूर्णत्वतोऽम्लानैरत एव सुगंधिभिः ॥५॥

अहिंसा-सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगता ।

गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥६॥

एभिर्देवाधिदेवाय बहुमानपुरःसरा ।

दीयते पालनाद्या तु सा वै शुद्धेत्युदाहता ॥७॥

दूसरी ओर, शुभ मनोभावनाओं से उत्पन्न, शास्त्र-वचन रूपी गुण से (अथवा शास्त्र-वचन रूपी धागे से)* संयुक्त, परिपूर्ण (अर्थात् अपवाद-हीन) होने के कारण बिना मुझाए हुए और इसीलिए सुगंधित फूलों की सहायता से—और यहाँ श्रेष्ठ फूल कहा गया है अहिंसा, सत्य, अ-चौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, गुरुभक्ति, तप, ज्ञान, (इन आठ चरित्र-गुणों) को अत्यंत मानपूर्वक की जाने वाली देवाधिदेव की अष्टपुष्पी पूजा जिस पूजा का स्वरूप है उक्त अहिंसा आदि का पालन करना—शुद्ध कही गई है ।

(टिप्पणी) देखा जा सकता है कि प्रस्तुत कारिकाओं में आचार्य हरिभद्र केवल यह कह रहे हैं कि एक व्यक्ति को अहिंसा आदि आठ चारित्रिक सद्गुणों का पालन शुभ मनोभावनापूर्वक, शास्त्राध्ययनपूर्वक तथा निरपवाद रूप से करना चाहिए, लेकिन इन आठ सद्गुणों की तुलना आठ फूलों से करके—तथा फूलों को दिए जाने वाले विशेषण इन सद्गुणों को देकर—वे पाठक के मन पर यह छाप छोड़ना चाहते हैं जैसे मानों यहाँ किसी देवता को समर्पित की गई किसी प्रकार की अष्टपुष्पी पूजा का वर्णन किया जा रहा है ।

**प्रशस्तो ह्यनया भावस्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः।
कर्मक्षयाच्च निर्वाणमत एषा सतां मता ॥८॥**

इस प्रकार की शुद्ध अष्टपुष्पी पूजा करने के फलस्वरूप एक व्यक्ति के मन में प्रशंसा-योग्य भावनाओं का जन्म होता है, इन भावनाओं के जन्म के फलस्वरूप निश्चय ही उसके 'कर्मों' का नाश होता है, तथा 'कर्मों' के नाश के फलस्वरूप उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है । यही कारण है कि बुद्धिमानों ने इस शुद्ध अष्टपुष्पी पूजा का ही अनुमोदन किया है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र के इस वक्तव्य से (तथा उनके इस प्रकार के वक्तव्यों से) सूचित होता है कि उनके मतानुसार मोक्ष का वास्तविक तथा एकमात्र साधन है चारित्रिक सद्गुणों का उत्तरोत्तर विकास ।



★ यह अर्थ करने पर मानना होगा कि यहाँ प्रस्तुत चरित्र-सद्गुणों की तुलना धागे में पिरोयेँ फूलों से—अर्थात् फूलों की माला से—की जा रही है ।

अग्नि-कर्म (हवन)

कर्मधनं समाश्रित्य दृढा सद्भावनाहृतिः ।

धर्मध्यानाग्निना कार्या दीक्षितेनाग्निकारिका ॥१॥

एक दीक्षा-प्राप्त (अर्थात् प्रव्रज्या-प्राप्त) व्यक्ति को चाहिए कि वह 'कर्मों' को ईंधन बनाकर, शुभ मनोभावनाओं को आहुति बनाकर तथा धर्मध्यान को अग्नि बनाकर कठोर अग्नि-कर्म (= हवन) में लगे ।

(टिप्पणी) देखा जा सकता है कि प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र केवल यह कह रहे हैं एक व्यक्ति को शुभमनोभावनापूर्वक सम्पादित धर्मध्यान की सहायता से अपने 'कर्मों' का नाश करना चाहिए । लेकिन धर्म-ध्यान की तुलना अग्नि से, शुभ-मनोभावनाओं की तुलना आहुति से तथा 'कर्मों' की तुलना ईंधन से करके वे पाठक के मन पर यह छाप छोड़ना चाहते हैं जैसे मानों यहाँ किसी प्रकार के हवन का वर्णन किया जा रहा है । 'धर्म-ध्यान' जैन-परंपरा का एक पारिभाषिक शब्द है । संक्षेप में जान लेना चाहिए कि यह परंपरा ध्यान को शोभन तथा अशोभन दो प्रकार का मानती है और फिर अशोभन ध्यान को 'आर्त' एवं 'रौद्र' इन दो उप-विभागों में तथा शोभन ध्यान को 'धर्म' एवं 'शुक्ल' इन दो उप-विभागों में बाँटती है । शुक्ल-ध्यान धर्म-ध्यान की तुलना में उच्चतर कोटि का है और टीकाकार का कहना है कि यहाँ आचार्य हरिभद्र का आशय धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान दोनों से है ।

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता ज्ञानध्यानफलं स च ।

शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं शिवधर्मोत्तरे ह्यदः ॥२॥

आखिरकार, दीक्षा (अर्थात् प्रव्रज्या) के संबंध में कहा गया है कि वह मोक्ष-प्राप्ति के लिए ली जाती है जबकि मोक्ष के संबंध में शास्त्र का कहना है कि वह ज्ञान तथा ध्यान के फलस्वरूप प्राप्त होती है । यह इसलिए कि 'शिवधर्मोत्तर' नाम वाले शास्त्र-ग्रंथ में निम्नलिखित सूत्र आता है :

(टिप्पणी) टीकाकार की सूचनानुसार 'शिवधर्मोत्तर' एक शैव आगम

का नाम है। आचार्य हरिभद्र समझते हैं कि प्रस्तुत प्रश्न पर—अर्थात् मोक्ष-साधन क्या है इस प्रश्न पर (साथ ही इस प्रश्न पर भी कि सामान्य हवन का—आचार्य हरिभद्र के शब्दों में, द्रव्य-हवन का—फल क्या होता है)—यह आगम उनके अपने मत का समर्थन करता है।

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण सम्पदः ।

तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

“पूजा के फलस्वरूप विशाल राज्य की प्राप्ति होती है तथा अग्निकर्म (= हवन) के फलस्वरूप सम्पत्ति की, तप पाप-प्रक्षालन के लिए किया जाता है तथा मोक्ष दिलाने वाले हैं ज्ञान एवं ध्यान।”

पापं च राज्यसम्पत्सु संभवत्यनघं ततः ।

न तद्धेत्वोरुपादानमिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥४॥

क्योंकि राज्य तथा सम्पत्ति की प्राप्ति होने पर पाप होता ही है (अथवा पाप संभव होता ही है) इसलिए राज्य तथा सम्पत्ति के कारणों का (अर्थात् पूजा एवं हवन का) आश्रय लेना निर्दोष नहीं, इस परिस्थिति पर भली भाँति विचार किया जाना चाहिए।

विशुद्धिश्चास्य तपसा न तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

और (राज्य तथा सम्पत्ति की प्राप्ति होने पर होने वाले) इस पाप का प्रक्षालन तप द्वारा होता है दान आदि द्वारा नहीं, अतएव यह दूसरे प्रकार का हवन (अर्थात् वह हवन जिसके फलस्वरूप सम्पत्ति की प्राप्ति होती है) उचित नहीं। इसी प्रकार महात्मा (व्यास) ने भी कहा है:

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि राज्य तथा सम्पत्ति की प्राप्ति पर होने वाले पाप का प्रक्षालन यदि दान आदि द्वारा संभव होता तो सामान्य हवन की—अर्थात् द्रव्य-हवन की—सहायता से सम्पत्ति का अर्जन कदाचित् उपयोगी सिद्ध हो सकता था, और वह इसलिए कि सम्पत्ति के बल पर दान आदि संभव होते ही हैं।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी ।

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥६॥

“जो व्यक्ति धर्मार्जन के उद्देश्य से धर्नोपार्जन का प्रयत्न करता है उसके लिए अधिक अच्छा होगा कि वह धनोपार्जन का प्रयत्न ही न करे, कीचड़ को धोने की अपेक्षा अधिक अच्छा है कि कीचड़ से दूर रहकर उसे छुआ ही न जाए ।”

(टिप्पणी) ‘अष्टक’ के एक मुद्रित संस्करण के संपादक की सूचनानुसार प्रस्तुत श्लोक महाभारत-अन्तर्गत ‘वनपर्व’ के दूसरे अध्याय से लिया गया है । प्रसंग को देखते हुए यहाँ महाभारतकार का आशय यह होना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति धनोपार्जन इस समझ से करे कि इस धनोपार्जन के दौरान में होने वाले पाप का प्रक्षालन इस धन के एकांश का दान आदि करके पर लिया जाएगा तो इस व्यक्ति के लिए अधिक अच्छी बात यह होगी कि वह धनोपार्जन की दिशा में जाए ही नहीं ।

मोक्षाध्वसेवया चैताः प्रायः शुभतरा भुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्य इयं सच्छस्त्रसंस्थितिः ॥७॥

वस्तुतः मोक्ष-मार्ग की (अर्थात् ज्ञान तथा ध्यान की) सेवा के फलस्वरूप ही (अर्थात् मोक्ष-मार्ग में सहायक होने के फलस्वरूप ही) इस संसार में सम्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक शुभ (अर्थात् अपेक्षाकृत कम अशुभ) तथा निर्दोष प्रायः बन जाया करती है, श्रेष्ठ शास्त्रों की मान्यता तो यही है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि मोक्ष-मार्ग में सहायक होने पर सम्पत्ति कम अशुभ भले ही हो जाए लेकिन वह अशुभ तो बनी ही रहती है और इसीलिए एक व्यक्ति को चाहिए कि वह मोक्ष के उन साधनों का—अर्थात् ज्ञान तथा ध्यान का—आश्रय ले जो सर्वथा शुभ हैं । यहाँ ‘प्रायः’ इस शब्द के प्रयोग से आचार्य हरिभद्र कदाचित् यह सूचित करना चाहते हैं कि कुछ व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का उपयोग मोक्ष-मार्ग में सहायक होने वाले एक साधन के रूप में भी नहीं करते ।

ईष्टापूर्तं न मोक्षांगं सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्योक्ता सैव न्याय्याऽग्निकारिका ॥८॥

‘इष्ट’ तथा ‘पूर्त’ नाम वाले क्रिया-कलाप मोक्ष का कारण नहीं, क्योंकि उनका विधान सांसारिक कामनाओं वाले व्यक्तियों के लिए किया गया है । और जहाँ तक इस प्रकार की कामनाओं से रहित व्यक्तियों का प्रश्न है उनके लिए उचित होगा कि वे उपरोक्त प्रकार के हवन का ही आश्रय लें ।

(टिप्पणी) 'इष्ट' तथा 'पूर्त' ये दो शब्द (संयुक्त शब्द 'इष्टापूर्त') ब्राह्मण-परंपरा में पारिभाषिक हैं। संक्षेप में 'इष्ट' से आशय है यज्ञ-पुरोहित को दिए जाने वाले दान से तथा 'पूर्त' से आशय है बावड़ी, कुआ, तालाब, मन्दिर, बाग बनवाने तथा अन्न-दान करने से। इन क्रिया-कलापों को विशेष रूप से शोभन कोटि का और इसीलिए स्वर्ग दिलाने वाला माना गया है; लेकिन स्पष्ट है जो क्रिया-कलाप स्वर्ग दिलाए वह मोक्ष-मार्ग का बाधक सिद्ध होता है और इसीलिए ब्राह्मण-परंपरा के ही मोक्षवादियों द्वारा 'इष्टापूर्त' आदि की भर्त्सना की गई पाई जाती है। ब्राह्मण मोक्षवादियों का यह दृष्टिकोण आचार्य हरिभद्र के प्रस्तुत दृष्टिकोण का तत्त्वतः समर्थन करता है। यहाँ टीकाकार ने 'इष्ट' तथा 'पूर्त' का लक्षण करने वाले दो श्लोक इष्टापूर्त की भर्त्सना करने वाला एक श्लोक ब्राह्मण-परंपरा के ही ग्रंथों में से उद्धृत किए हैं। लक्षण संबंधी श्लोक हैं :

अन्तर्वेद्यां तु यद्दत्तं ब्राह्मणानां समक्षतः ।

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैरिष्टं तदभिधीयते ॥

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।

अन्नप्रदानमारामाः पूर्तं तदभिधीयते ॥

और भर्त्सना संबंधी श्लोक है :

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं विशन्ति ॥



भिक्षा

सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथाऽपरा ।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ॥१॥

तत्त्ववेत्ताओं ने भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई है—एक सर्वसम्पत्करी भिक्षा, दूसरी पौरुषघ्नी भिक्षा, तीसरी वृत्तिभिक्षा ।

(टिप्पणी) इन तीन प्रकार की भिक्षाओं का जो वर्णन आचार्य हरिभद्र अभी करने जा रहे हैं उससे स्पष्ट हो जाएगा कि इनके ये ये नाम क्यों हैं ।

यतिध्यानादियुक्तो यो गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः ।
सदानारंभिणस्तस्य सर्वसम्पत्करी मता ॥२॥

वृद्धाद्यर्थमसंगस्य भ्रमरोपमयाऽटतः ।
गृहिदेहोपकाराय विहितेति शुभाशयात् ॥३॥

ध्यान आदि से सम्पन्न, गुरु की आज्ञा-पालन में रत तथा पाप-क्रियाओं से सदा-विरत जो साधु है उसकी भिक्षा सर्वसम्पत्करी मानी गई है । (भिक्षार्थी) यह साधु भ्रमर की भाँति विचरण करता है—वयोवृद्ध आदि (अपने सखा—साधुओं) के लिए भिक्षा माँगता हुआ, अनासक्त भाव से भिक्षा माँगता हुआ, दाता गृहस्थ तथा अपने शरीर पर उपकार करने की भावना से भिक्षा माँगता हुआ, इस प्रकार का भिक्षोपार्जन उसके लिए शास्त्र-विहित है इस शुभ-भावना से भर कर भिक्षा माँगता हुआ (अथवा दाता गृहस्थ तथा अपने शरीर पर उपकार करने के उद्देश्य से इस प्रकार के भिक्षोपार्जन का विधानशास्त्र में किया गया है इस शुभ भावना से भरकर भिक्षा माँगता हुआ) ।

(टिप्पणी) समझना सरल है कि इन कारिकाओं में वर्णित प्रकार की भिक्षा को आचार्य हरिभद्र सर्वश्रेष्ठ प्रकार की भिक्षा मानते हैं और इसीलिए उन्होंने इसे 'सर्वसम्पत्करी (= सब सम्पत्तियों अर्थात् सौभाग्यों को दिलाने वाली)' यह नाम दिया है । 'सदानारंभी' का शब्दार्थ तो होना चाहिए 'सभी क्रियाओं से सदा विरत व्यक्ति' लेकिन इसका फलितार्थ है 'सभी पाप-क्रियाओं से सदा विरत

व्यक्ति' । 'भ्रमर की भाँति विचरण करने' का अर्थ है एक एक स्थान से थोड़ा थोड़ा माँगते हुए विचरण करना । 'वृद्धादि' में 'आदि' इस शब्दांश से आशय है उन सखा-साधुओं से जो रोग आदि किसी कारण से भिक्षा के लिए जाने में असमर्थ हो गए हैं । एक साधु को भोजन आदि अपनी सभी जीवन-यापन सामग्री भिक्षा द्वारा प्राप्त करनी चाहिए यह जैन-परंपरा की—वस्तुतः भारत की सभी भिक्षु-परंपराओं की—अपनी मान्यता है । इसीलिए आचार्य हरिभद्र इंगित कर रहे हैं कि भिक्षा माँगते समय एक साधु अनुभव करता है कि वह शास्त्राज्ञा का पालन कर रहा है—न कि किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव । हाँ, एक साधु को भिक्षा माँगने का वास्तविक अधिकार तभी प्राप्त होता है जब वह साधु-जीवन के सभी नियमों का यथोचित पालन करे । वरना, जैसा कि हम अभी देखने जा रहे हैं, उसकी भिक्षा 'पौरुषघ्नी' कोटि में गिनी जाएगी ।

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो यस्तद्विरोधेन वर्तते ।

असदारंभिणस्तस्य पौरुषघ्नीति कीर्तिता ॥४॥

जो व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रव्रज्यावस्था के प्रतिकूल आचरण करता है तथा पाप-कर्म करता है उसकी भिक्षा 'पौरुषघ्नी' कही गई है ।
(टिप्पणी) 'पौरुषघ्नी' का शब्दार्थ अगली कारिका में बतलाया जाएगा ।

धर्मलाघवकृन्मूढो भिक्षयोदरपूरणम् ।

करोति दैन्यात् पीनांगः पौरुषं हन्ति केवलम् ॥५॥

ऐसा मूर्ख तथा धर्म की प्रतिष्ठा गिराने वाला व्यक्ति भिक्षा द्वारा अपनी उदर पूर्ति दीनता-पूर्वक करता है और वह हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला होते हुए भी अपने पुरुषार्थ का हनन मात्र करता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत व्यक्ति की उदर-पूर्ति दीनता-पूर्वक की गई उदर-पूर्ति इसलिए कही जा रही है कि सत्समाज इस व्यक्ति को अश्लाघा की दृष्टि से देखता है । अपना किसी प्रकार का पुरुषार्थ सिद्ध करने में असमर्थ सामान्यतः वह व्यक्ति होता है जिसका शरीर इस-उस प्रकार से रुग्ण हो लेकिन प्रस्तुत व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला होते हुए भी अपना किसी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं सिद्ध कर पाता । अर्थ तथा काम का तो ईँसलिए कि वह गृहस्थ नहीं और धर्म तथा मोक्ष का इसलिए नहीं कि वह सच्चा साधु नहीं । इसीलिए इस व्यक्ति की भिक्षा को 'पौरुषघ्नी (= पुरुषार्थ का हनन करने वाली)' यह नाम दिया

गया है ।

निःस्वांधपंगवो ये तु न शक्ता वै क्रियान्तरे ।
भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ॥६॥

जो निर्धन, अंधे, लंगड़े व्यक्ति कोई दूसरा काम करने में असमर्थ ही हैं तथा अपनी जीविका के लिए भिक्षा माँगते फिरते हैं उनकी भिक्षा 'वृत्ति-भिक्षा' कहलाती है ।

(टिप्पणी) इस प्रकार 'वृत्ति-भिक्षा' का अर्थ हुआ वृत्ति अर्थात् जीविका के लिए माँगी गई भिक्षा । स्पष्ट है कि जो व्यक्ति कोई दूसरा काम करने में समर्थ होते हुए भी भिक्षा माँगते हैं उनकी भिक्षा या तो 'पौरुषघ्नी' कोटि में आएगी या 'सर्वसम्पत्करी' कोटि में—क्योंकि ये व्यक्ति या तो झूठे साधु होंगे या सच्चे साधु ।

नातिदुष्टाऽपि चामीषामेषा स्यान् ह्यमी तथा ।
अनुकम्पानिमित्तत्वाद् धर्मलाघवकारिणः ॥७॥

इन व्यक्तियों की यह भिक्षा भी अत्यन्त दोष वाली नहीं, क्योंकि वे दूसरों में अपने प्रति करुणा उत्पन्न करते हैं और इसलिए उस भाँति (अर्थात् 'पौरुषघ्नी' भिक्षा करने वाले व्यक्ति की भाँति) धर्म की प्रतिष्ठा गिराने वाले नहीं सिद्ध होते ।

दातृणामपि चैताभ्यः फलं क्षेत्रानुसारतः ।
विज्ञेयमाशयाद् वाऽपि स विशुद्धः फलप्रदः ॥८॥

ये तीन प्रकार की भिक्षाएँ देने वाले व्यक्ति भी 'जैसा खेत वैसा फल' पाते हैं (अर्थात् जैसा भिक्षुक वैसा भिक्षादान-फल पाते हैं); अथवा कहना चाहिए कि ये भिक्षा-दाता व्यक्ति भिक्षादान-कालीन अपनी मनोभावना के अनुसार फल पाते हैं और वह इसलिए कि विशुद्ध मनोभावना ही फलवती हुआ करती है ।

(टिप्पणी) उस पूर्व-परिचित पारिभाषिक शब्दावली में कहा जा सकता है शुभ मनोभावनाओं के साथ भिक्षा देना 'भावतः' भिक्षा देना है जबकि शुभ मनोभावनाओं के बिना भिक्षा देना 'द्रव्यतः' भिक्षा देना है ।



सर्वसम्पत्करी भिक्षा

अकृतोऽकारितश्चान्यैरसंकल्पित एव च ।

यतेः पिण्डः समाख्यातो विशुद्धः शुद्धिकारकः ॥१॥

एक साधु के भोजन के संबंध में (वस्तुतः उसके सभी भिक्षा-पदार्थों के संबंध में) कहा गया है कि वह शुद्ध तथा शुद्धिकारी तभी होता है जब वह न (साधु द्वारा) स्वयं बनाया हुआ हो, न (साधु द्वारा) दूसरों से बनवाया हुआ हो, न (किसी के द्वारा) संकल्पपूर्वक बनाया हुआ है ।

(टिप्पणी) यहाँ 'शुद्ध' का अर्थ है दोष-रहित कारण से उत्पन्न तथा शुद्धिकारी का अर्थ है दोषरहित फल को उत्पन्न करने वाला । प्रस्तुत कारिका का वास्तविक हार्द आगामी कारिकाओं में स्पष्ट होगा—क्योंकि आगामी कारिकाओं में हमें बतलाया जाएगा कि सच्ची भिक्षा 'अ-संकल्पित' किस अर्थ में होती है ।

यो न संकल्पितः पूर्वं देयबुद्ध्या कथं नु तम् ।

ददाति कश्चिदेवं च स विशुद्धो वृथोदितम् ॥२॥

(इस संबंध में किसी की शंका है :) "जिसके (अर्थात् जिस भोजन के) संबंध में किसी ने पहले से यह संकल्प न किया हो कि वह (भिक्षार्थी को) दिए जाने के लिए है उसे कोई (किसी भिक्षार्थी को) देगा कैसे ? ऐसी दशा में यह कहना बेकार है कि इस प्रकार का भोजन (अर्थात् किसी के द्वारा संकल्पपूर्वक न बनाया हुआ भोजन) शुद्ध होता है ।

न चैवं सदगृहस्थानां भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत् ।

स्वपरार्थं तु ते यत्नं कुर्वते नान्यथा क्वचित् ॥३॥

और ऐसी दशा में (एक साधु का) सदगृहस्थों के घरों से भिक्षा लेना भी उचित नहीं, क्योंकि ये (सदगृहस्थ) भोजन पकाने का प्रयास अपने तथा दूसरों के (अर्थात् अपने तथा भिक्षार्थियों के) उद्देश्य से ही किया करते हैं अन्य

किसी प्रकार से नहीं (अर्थात् केवल अपने उद्देश्य से नहीं) ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत वादी की शंका का आशय यह है कि सद्गृहस्थों के घरों से भिक्षा रूप में पाया जाने वाला भोजन अवश्य ही ऐसा होगा कि उसके संबंध में पहले से यह संकल्प किया जा चुका है कि वह भिक्षार्थियों को देने के लिए है ।

संकल्पनं विशेषेण यत्रासौ दृष्ट इत्यपि ।

परिहारो न सम्यक् स्याद् यावदर्थिकवादिनः ॥४॥

वही भोजन (भिक्षा की दृष्टि से) दोष-दूषित है जिसे बनाते समय एक विशेष प्रकार से संकल्प किया गया हो (अर्थात् जो भोजन किसी एक साधुविशेष के उद्देश्य से बनाया हुआ हो) यह बचाव भी वह वादी नहीं दे सकता जिसका यह कहना है कि भिक्षार्थी मात्र के उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन भिक्षा में ग्रहण किए जाने के अयोग्य है ।

(टिप्पणी) यहाँ 'यावदर्थिकवादी' का अर्थ किया गया है "यावदर्थिक" भोजन के संबंध में यह कहने वाला व्यक्ति कि वह भिक्षा में ग्रहण किए जाने के योग्य नहीं' और 'यावदर्थिक भोजन' का अर्थ किया गया है 'भिक्षार्थी मात्र के उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन' ।

विषयो वाऽस्य वक्तव्यः पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।

असंभवाभिधानात् स्यादाप्तस्यानाप्तताऽन्यथा ॥५॥

अथवा फिर हमें बतलाया जाना चाहिए कि 'भिक्षार्थी मात्र के उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन भिक्षा में ग्रहण किए जाने के अयोग्य है' इस विधान में आशय किस प्रकार के भोजन से है, साथ ही हमें यह भी बतलाया जाना चाहिए कि जब किसी भोजन के संबंध में कहा जाता है कि वह पुण्य के उद्देश्य से पकाया गया है तब आशय किस प्रकार के भोजन से है । अन्यथा हमें कहना पड़ेगा कि आप जिसे आप्त (अर्थात् प्रामाणिक) व्यक्ति मानते हैं (अर्थात् वह शास्त्रकार जिसने यह आदेश दिया है कि भिक्षार्थी मात्र के उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन भिक्षा में ग्रहण किए जाने के अयोग्य है) वह वस्तुतः आप्त व्यक्ति नहीं और वह इसलिए कि उसने असंभव बात कही है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत वादी की शंका का आशय यह है कि यदि संकल्पपूर्वक बनाया हुआ भोजन भिक्षा में ग्रहण किए जाने के सर्वथा अयोग्य है तब न तो कोई साधु किसी गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त कर सकेगा और न कोई

गृहस्थ किसी साधु को भिक्षा देकर पुण्य प्राप्त कर सकेगा, लेकिन साधु गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त न करे और गृहस्थ साधु को भिक्षा देकर पुण्य प्राप्त न करे ये दोनों ही असंभव बातें हैं ।

**विभिन्नं देयमाश्रित्य स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि ।
संकल्पनं क्रियाकाले तद् दुष्टं विषयोऽनयोः ॥६॥**

(इस पर हमारा उत्तर है) अपने द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तु (अर्थात् भोजन आदि) से अतिरिक्त किसी वस्तु को तैयार करते समय जब संकल्प किया जाए कि वह (भिक्षार्थी को) दी जाने के लिए है तब वह संकल्प उक्त दोनों प्रसंगों में (अर्थात् एक साधु द्वारा ग्रहण की जाने वाली भिक्षा के प्रसंग में तथा पुण्य के उद्देश्य से तैयार की गई वस्तु के प्रसंग में) दोष-दूषित सिद्ध होता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि एक गृहस्थ को चाहिए कि वह अपने लिए तैयार किए गए भोजन आदि में से ही भिक्षार्थियों का भी भाग निकाल दे लेकिन वह भिक्षार्थियों के लिए विशेषरूप से भोजन आदि तैयार न कराए । इसी प्रकार के भोजन आदि को भिक्षा में देने से इस गृहस्थ को पुण्य प्राप्त होगा तथा इसी प्रकार के भोजन आदि को भिक्षा में लेना एक साधु के लिए उचित है ।

**स्वोचिते तु यदारंभे तथा संकल्पनं क्वचित् ।
न दुष्टं शुभभावत्वात् तच्छुद्धाऽपरयोगवत् ॥७॥**

दूसरी ओर, जब अपने योग्य (अर्थात् अपने द्वारा की जाने वाली) किसी वस्तु के संबंध में उक्त प्रकार का संकल्प किया जाता है (अर्थात् यह संकल्प कि इस वस्तु का एक भाग भिक्षार्थी को दिया जाने के लिए है) तब वह संकल्प दोष-दूषित नहीं, क्योंकि ऐसा संकल्प तो मनःशुद्धि रूप है—ठीक उसी प्रकार जैसे कि इस संबंध में किये गये अन्य शुद्ध क्रिया-कलाप ।

(टिप्पणी) भिक्षादान आदि शोभन कामों को करते समय मनःशुद्धि कितनी आवश्यक है इस बात की याद पाठक को आचार्य हरिभद्र यही जताने के लिए दिलाते हैं कि मनःशुद्धिपूर्वक किया गया भिक्षादान आदि ही सच्चा—पारिभाषिक शब्दावली में, 'भावतः किया गया'—भिक्षादान आदि है । 'इस संबंध में किए गए अन्य क्रिया-कलापों' से आचार्य हरिभद्र का आशय एक गृहस्थ द्वारा किए गए साधु के वंदन, स्वागत-सत्कार आदि से है ।

दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि लाभ एवमसंभवः ।

नोक्त इत्याप्ततासिद्धिर्यतिधर्मोऽति दुष्करः ॥८॥

इस प्रकार संकल्पपूर्वक न बनाया हुआ भोजन प्राप्त करना भी एक अनुभव में आने वाली बात है और तब हम कह सकते हैं कि हमारे द्वारा आप्त माने गए व्यक्ति ने कोई असंभव बात नहीं कही-जिससे सिद्ध यह हुआ कि यह व्यक्ति सचमुच आप्त है । हाँ, एक साधु का धर्म अत्यंत कठिन अवश्य है ।

(टिप्पणी) विरोधी वादी ने अभी यह सिद्ध करना चाहा था कि आचार्य हरिभद्र द्वारा आदर्श रूप से कल्पित साधु-चर्या एक असंभव बात है । उत्तर में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि उनके द्वारा आदर्श रूप से कल्पित साधु चर्या एक असंभव बात नहीं लेकिन एक अत्यन्त कठिन बात अवश्य है ।



एकान्त भोजन

सर्वारंभनिवृत्तस्य मुमुक्षोर्भावितात्मनः ।
पुण्यादिपरिहाराय मतं प्रच्छन्नभोजनम् ॥१॥

सब पाप-क्रियाओं को छोड़ देने वाले, शुभ भावनाओं से भरे हुए मन वाले, मोक्ष की अभिलाषा वाले (अर्थात् प्रव्रज्या ग्रहण कर चुकने वाले) एक व्यक्ति को चाहिए कि वह एकान्त में भोजन करे ताकि वह पुण्य आदि से (अर्थात् पुण्य तथा पाप से) बचा रहे ।

(टिप्पणी) आगामी कारिकाओं से स्पष्ट होगा कि प्रस्तुत प्रसंग में पुण्य तथा पाप का अवसर किस प्रकार से उपस्थित होता है—जिन पुण्य तथा पाप से बचने के लिए एक साधु को आदेश दिया जा रहा है कि वह एकान्त में भोजन करे । यहाँ आए 'सर्वारंभनिवृत्ति' इस शब्द का अर्थ उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे कारिका ५/२ में आए 'सदानारंभी' इस शब्द का ।

भुञ्जानं वीक्ष्य दीनादिर्याचते क्षुत्प्रपीडितः ।
तस्यानुकम्पया दाने पुण्यबंधः प्रकीर्तितः ॥२॥

एक व्यक्ति को खाते देखकर भूख से पीड़ित दीन आदि उससे (खाना) माँगने लगते हैं, और यह व्यक्ति यदि कृपापूर्वक (इन दीन आदि को खाना) दे बैठता है तो वह शुभ 'कर्मों' का बंध (= अर्जन) करता है ऐसा शास्त्र का कहना है ।

भवहेतुत्वतश्चायं नेध्यते मुक्तिवादिनाम् ।
पुण्यापुण्यक्षयान्मुक्तिरिति शास्त्रव्यवस्थितेः ॥३॥

लेकिन क्योंकि शुभ 'कर्मों' का बंध पुनर्जन्म का कारण बनता है इसलिए मोक्षवादी (अर्थात् मोक्षार्थी) व्यक्ति ऐसा 'कर्म'-बंध चाहते नहीं । हमारे कथन का आधार शास्त्र की यह व्यवस्था है कि मोक्ष की प्राप्ति शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के 'कर्मों' का नाश होने से होती है ।

(टिप्पणी) ध्यान देने की बात है कि मोक्षवादी प्रत्येक विचारक के लिए यह कहना आवश्यक हो जाता है कि एक व्यक्ति शुभ 'कर्मों' के बंध से ठीक उसी प्रकार बचे जैसे अशुभ 'कर्मों' के बंध से—क्योंकि इन दोनों ही प्रकार के 'कर्म'-बंध का फल पुनर्जन्म होता है (भले ही शुभ 'कर्म' बंध का फल उत्कृष्ट पुनर्जन्म हो तथा अशुभ 'कर्म-बंध का फल निकृष्ट पुनर्जन्म)।

प्रायो न चानुकम्पावांस्तस्यादत्त्वा कदाचन ।
तथाविधस्वभावत्वाच्छ्वनोति सुखमासितुम् ॥४॥

उसे (अर्थात् माँगने वाले दीन आदि को) कुछ दिए बिना चैन से बैठ सकना अधिकांश दयालु व्यक्तियों के लिए कभी संभव नहीं होता और वह इसलिए कि इन व्यक्तियों का ऐसा स्वभाव ही है (अर्थात् इन व्यक्तियों का यह स्वभाव ही है कि वे दीन आदि पर दया करते हैं) ।

अदानेऽपि च दीनादेशप्रीतिर्जायते ध्रुवम् ।
ततोऽपि शासनद्वेषस्ततः कुगतिसन्ततिः ॥५॥

और यदि (माँगने वाले) इन दीन आदि को कुछ नहीं दिया जाए तो उनका चित्त अवश्य उद्विग्न होता है, इस उद्वेग के फलस्वरूप उनके मन में शास्त्र के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और इस द्वेष के फलस्वरूप उन्हें आगामी जन्मों में नीच योनियों के प्रवाह में बहना पड़ता है ।

(टिप्पणी) एक साधु से खाना न मिलने पर याचकों के मन में शास्त्र के प्रति द्वेष इसलिए उत्पन्न होता है कि वे देखते हैं कि जो साधु इस समय उन्हें खाना नहीं दे रहा है वही तो शास्त्र का प्रवक्ता बनकर उनके सामने आता है ।

निमित्तभावतस्तस्य सत्युपाये प्रमादतः ।
शास्त्रार्थबाधनेनेह पापबंध उदाहृतः ॥६॥

इस प्रकार उपाय संभव होते हुए भी केवल प्रमादवश शास्त्रवचन का उल्लंघन करने वाले प्रस्तुत व्यक्ति के संबंध में (अर्थात् एकान्त में भोजन न करने वाले एक साधु के संबंध में) कहा गया है कि वह अशुभ 'कर्मों' का बंध करता है और वह इसलिए कि वह दीन आदि की उक्त दुर्दशा में निमित्त कारण बनता है) ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत व्यक्ति को जिस शास्त्र-वचन का उल्लंघन करने वाला कहा जा रहा है वह टीकाकार के मतानुसार यह है कि “किसी को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे दूसरों के चित्त में उद्वेग आदि उत्पन्न हों” । लेकिन यह शास्त्र-वचन यह भी हो सकता है कि “एक साधु एकान्त में भोजन करे” ।

शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन यथाशक्ति मुमुक्षुणा ।

अन्यव्यापारशून्येन कर्तव्यः सर्वदैव हि ॥७॥

और शास्त्र-वचन का पालन एक मोक्षार्थी व्यक्ति को प्रयत्नपूर्वक, सदैव, यथाशक्ति तथा सब काम छोड़ कर करना चाहिए ।

एवं ह्युभयथाऽप्येतद् दुष्टं प्रकटभोजनम् ।

यस्मान्निर्दिशितं शास्त्रे ततस्त्यागोऽस्य युक्तिमान् ॥८॥

इस प्रकार क्योंकि शास्त्र खुले में भोजन करने को दोनों अवस्थाओं में (अर्थात् याचकों को कुछ देने न देने दोनों की अवस्थाओं में) दोष-दूषित ठहराता है इसलिए ऐसे भोजन का त्याग ही युक्तियुक्त है ।



प्रत्याख्यान (पाप-विरति का संकल्प)

द्रव्यतो भावतश्चैव प्रत्याख्यानं द्विधा मतम् ।
अपेक्षादिकृतं ह्याद्यमतोऽन्यच्चरमं मतम् ॥१॥

प्रत्याख्यान दो प्रकार का बतलाया गया है—एक द्रव्य-प्रत्याख्यान, दूसरा भाव-प्रत्याख्यान । जो प्रत्याख्यान किसी अपेक्षा (= सांसारिक कामना) आदि के कारण किया जाए वह इनमें से पहले प्रकार का है तथा जो अपेक्षा आदि के बिना किया जाए वह दूसरे प्रकार का ।

(टिप्पणी) 'प्रत्याख्यान' को (अर्थात् पाप-विरति के संकल्प को) जैन-परंपरा में एक धर्म-कृत्य के रूप में गिना गया है और इस धर्म-कृत्य के अवसर पर उपयोग में लाए जाने के लिए एक विशेष प्रकार के 'प्रत्याख्यान-सूत्रों' की रचना यहाँ हुई है । ऐसी दशा में प्रत्याख्यान-सूत्रों का उच्चारण भर कर देना द्रव्य-प्रत्याख्यान हुआ तथा मनःशुद्धिपूर्वक इन सूत्रों का उच्चारण करना भाव-प्रत्याख्यान हुआ । प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र इसी बात को थोड़ा घुमाकर कह रहे हैं, उनका कहना है कि अपेक्षा आदि (चार) दोषों के उपस्थित रहते किया जाने वाला प्रत्याख्यान द्रव्य-प्रत्याख्यान है तथा इन दोषों के उपस्थित न रहते किया जाने वाला प्रत्याख्यान भाव-प्रत्याख्यान । अपेक्षा आदि (चार) दोष कौन से हैं यह आगामी कारिकाओं से जाना जा सकेगा ।

अपेक्षा चाविधिश्चैवापरिणामस्तथैव च ।

प्रत्याख्यानस्य विघ्नास्तु वीर्याभावस्तथाऽपरः ॥२॥

प्रत्याख्यान के विघ्न निम्नलिखित (चार) हैं : किसी अपेक्षा का होना, विधिपूर्वकता का न होना, अनुरूप मनोभावना का न होना, प्रयत्न का न होना ।

(टिप्पणी) यहाँ 'अविधि' का अर्थ है 'प्रत्याख्यान के संबंध में शास्त्र द्वारा बतलाई गई विधि का पालन न करना । यह कहना भी कदाचित् अनुचित न होगा कि द्रव्य-प्रत्याख्यान का मुख्य दोष 'अ-परिणाम' है ।

लब्ध्याद्यपेक्षया होतदभव्यानामपि क्वचित् ।

श्रूयते न च तत् किञ्चिदित्यपेक्षाऽत्र निन्दिता ॥३॥

किसी लाभ की अपेक्षा से प्रत्याख्यान अभव्य व्यक्ति भी किया करते हैं (अर्थात् वे व्यक्ति भी जो स्वभावतः मोक्ष के अनधिकारी हैं) ऐसा वर्णन शास्त्र में कहीं कहीं मिलता है, लेकिन इस प्रकार का प्रत्याख्यान किसी काम का नहीं। यही कारण है कि प्रत्याख्यान के पीछे किसी अपेक्षा का रहना एक निन्दित बात है।

(टिप्पणी) जैन-परंपरा में आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं—एक वे जो स्वभावतः मोक्ष की अधिकारी हैं तथा दूसरी वे जो स्वभावतः मोक्ष की अनधिकारी हैं। इनमें से पहली का पारिभाषिक विशेषण 'भव्य' है तथा दूसरी का 'अभव्य'।

यथैवाऽविधिना लोके न विद्याग्रहणादि यत् ।

विपर्ययफलत्वेन तथेदमपि भाव्यताम् ॥४॥

जिस प्रकार संसार में देखा जाता है कि विधिपूर्वकता के अभाव में किया गया विद्या-ग्रहण आदि सच्चा विद्या-ग्रहण आदि नहीं—और वह इसलिए कि उस दशा में इस संबंध में किया गया प्रयत्न उलट फल देने वाला सिद्ध होता है—उसी प्रकार प्रस्तुत विषय में भी (अर्थात् प्रत्याख्यान के विषय में भी) समझना चाहिए (अर्थात् विधिपूर्वकता के अभाव में किया गया प्रत्याख्यान भी उलट फल देने वाला सिद्ध होता है)।

अक्षयोपशमात् त्यागपरिणामे तथाऽसति ।

जिनाज्ञाभक्तिसंवेग - वैकल्यादेतदप्यसत् ॥५॥

बाधक 'कर्मों' का क्षयोपशम (अर्थात् वेग-शान्ति) न होने के कारण जब मन में त्याग रूप शुभ मनोभावना आवश्यकतानुसार प्रकट न हो रही हो उस समय किया जाने वाला प्रत्याख्यान भी अशोभन है, और वह इसलिए कि ऐसा प्रत्याख्यान करने वाले व्यक्ति के मन में न तो जिनों (अर्थात् पूज्य शास्त्रकारों) की आज्ञा के प्रति भक्ति-भावना रहती है न संसार के प्रति भय की भावना (अथवा मोक्ष के प्रति अभिलाषा की भावना)।

(टिप्पणी) 'क्षयोपशम' जैन कर्म-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति का एक पूर्वार्जित 'कर्म'

निम्नलिखित चार अवस्थाएँ धारण कर सकता है -

- (१) उदय (अर्थात् पूरे वेग से अपना फल देना),
- (२) क्षय (अर्थात् अपना फल देकर नष्ट हो जाना),
- (३) उपशम (अर्थात् कुछ समय के लिए अपना फल देने से सर्वथा रुक जाना),
- (४) क्षयोपशम (अर्थात् कम वेग से अपना फल देना) ।

इसीलिए बोल-चाल की भाषा में 'क्षयोपशम' का अर्थ वेग-शान्ति किया जा सकता है । जैन-परंपरा की मान्यता है कि यदि एक व्यक्ति के मन में त्याग रूप शुभ मनोभावना प्रकट होती है तो उसके एक 'कर्म'-विशेष का (जिसका पारिभाषिक नाम है 'प्रत्याख्यानावरण कषाय') वेग शान्त होना आवश्यक है । 'जिन' (= 'तीर्थकर') जैन परंपरा का एक अतिसम्मानसूचक विशेषण है (परंपरा का नाम ही इस शब्द पर आधारित है) और जो व्यक्ति इस विशेषण का अधिकारी है वही शास्त्र-प्रणयन का भी, इसीलिए यहाँ 'जिन' का अर्थ 'पूज्य शास्त्रकार' वह किया जा रहा है । 'संवेग' इस शब्द से 'संसार (= पुनर्जन्म-चक्र) के प्रति भय की भावना' तथा 'मोक्ष के प्रति अभिलाषा की भावना' दोनों का सूचन होता है (वस्तुतः ये दोनों भावनाएँ साथ साथ चलनी चाहिए) । 'तथा' (= आवश्यकतानुसार) इस शब्द के प्रयोग से आचार्य हरिभद्र यह सूचित कर रहे हैं कि द्रव्य-प्रत्याख्यान में भी त्याग रूप शुभ मनोभावना एक सीमा तक प्रकट हो सकती है—लेकिन उस दशा में वह 'जिनाज्ञाभक्ति' तथा 'संवेग' से शून्य होती है ।

उदग्रवीर्यविरहात् क्लिष्टकर्मोदयेन यत् ।

बाध्यते तदपि द्रव्यप्रत्याख्यानं प्रकीर्तितम् ॥६॥

घोर प्रयत्न के अभाव के कारण उदय होने वाले क्लिष्ट (अर्थात् संतापकारी) 'कर्म' जिस प्रत्याख्यान को बाधा पहुँचा रहे हों (अथवा क्लिष्ट 'कर्मों' के उदय के कारण अस्तित्व में आनेवाला घोर प्रयत्न का अभाव जिस प्रत्याख्यान को बाधा पहुँचा रहा हो) वह भी द्रव्य-प्रत्याख्यान ही कहलाता है ।

(टिप्पणी) जैन कर्म-शास्त्र की मान्यतानुसार एक व्यक्ति के प्रत्येक अशोभन काम के संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं—पहली यह कि उसके फलस्वरूप इस व्यक्ति के किन्हीं पूर्वार्जित क्लिष्ट 'कर्मों' का उदय होता है, दूसरी यह कि वह स्वयं इस व्यक्ति के किन्हीं पूर्वार्जित क्लिष्ट 'कर्मों' के उदय का

फल है। 'प्रत्याख्यान' के अवसर पर घोर प्रयत्न का अभाव एक अशोभन काम है और प्रस्तुत कारिका के पूर्वार्ध के दो अर्थ इस अशोभन काम को अभी बतलाए गए दो रूपों में देखने का फल है।

एतद्विपर्ययाद् भावप्रत्याख्यानं जिनोदितम् ।

सम्यक् चारित्ररूपत्वान्नियमान्मुक्तिसाधनम् ॥७॥

इन सबसे उलटे प्रकार के प्रत्याख्यान को पूज्य शास्त्रकारों ने भाव-प्रत्याख्यान कहा है और ऐसा प्रत्याख्यान सदाचरण स्वरूप होने के कारण नियमतः मोक्ष को दिलाने वाला सिद्ध होता है।

(टिप्पणी) हम पहले देख चुके हैं कि आचार्य हरिभद्र के मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति का चरम-कारण है सदाचरण की उत्तरोत्तर वृद्धि; ऐसी दशा में यदि वे भाव-प्रत्याख्यान को मोक्ष का कारण मानते हैं तो इसीलिए कि वह सदाचरण रूप है।

जिनोक्तमिति सद्भक्त्या ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः ।

बाध्यमानं भवेद् भावप्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥८॥

द्रव्यतः किया गया प्रत्याख्यान भी यदि 'उसका (अर्थात् प्रत्याख्यान का) विधान पूज्य शास्त्रकारों ने किया है' ऐसी सच्ची भक्ति-भावना के हाथों बाधित हो रहा हो तो वह भाव-प्रत्याख्यान का कारण बनता है।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि यदि कोई व्यक्ति प्रत्याख्यान का संपादन शास्त्र-भक्तिपूर्वक करता है तो भले ही उसका प्रत्याख्यान प्रारंभ में द्रव्य प्रत्याख्यान की कोटि का हो लेकिन अन्त में जाकर वह अवश्य भाव-प्रत्याख्यान में परिणत हो जाता है।



ज्ञान

विषयप्रतिभासं चात्मपरिणतिमत्तथा ।

तत्त्वसंवेदनं चैव ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥१॥

महर्षियों ने ज्ञान तीन प्रकार का बतलाया है—एक 'विषय का प्रतिभास' रूप, दूसरा 'शुभ मनोभावना वाला', तीसरा 'तत्त्व का संवेदन' रूप ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत तीन प्रकार के ज्ञानों को आचार्य हरिभद्र ये नाम क्यों दे रहे हैं यह आगामी कारिकाओं में स्पष्ट हो जाएगा ।

विषकण्टकरत्नादौ बालादिप्रतिभासवत् ।

विषयप्रतिभासं स्यात् तद्धेयत्वाद्यवेदकम् ॥२॥

विष, कांट, रत्न आदि को देखते समय जिस प्रकार की वस्तु-प्रतीति एक बालक आदि के मन में उत्पन्न होती है उस प्रकार की वस्तु-प्रतीति को 'विषय का प्रतिभास' रूप ज्ञान कहते हैं और यह ज्ञान अपनी विषयभूत वस्तु के संबंध में यह जानकारी नहीं कर पाता कि वह त्याग करने योग्य आदि है (अर्थात् त्याग करने योग्य, ग्रहण करने योग्य अथवा उपेक्षा करने योग्य है) ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि जो ज्ञान अपने विषय के स्वरूप मात्र की जानकारी कराता है न कि इस विषय के गुण-दोषों की भी वह ज्ञान है 'विषय का प्रतिभास' रूप (न कि 'विषय के गुण-दोषों का प्रतिभास' रूप) । और इस ज्ञान को एक बालक के ज्ञान जैसा इसलिए बतलाया जा रहा है कि एक बालक एक वस्तु के बाहरी (अर्थात् इन्द्रियगोचर) रूप मात्र को पहचानता है इस वस्तु के गुण-दोषों को नहीं ।

निरपेक्षप्रवृत्त्यादिलिंगमेतदुदाहृतम् ।

अज्ञानावरणापायं महापायनिबंधनम् ॥३॥

इस प्रकार के ज्ञान की पहचान यह बतलाई गई है कि उसके फलस्वरूप होने वाली क्रिया आदि के अवसर पर (अर्थात् क्रिया, क्रिया-विरति

आदि के अवसर पर) एक व्यक्ति के मन में किसी प्रकार की विघ्न-शंका नहीं उठा करती, इस प्रकार के ज्ञान में ज्ञान के आवरण (अर्थात् ज्ञान के आवरणभूत 'कर्म') नहीं हटे होते (अथवा इस प्रकार के ज्ञान में 'अज्ञान' के—अर्थात् 'मति-अज्ञान' आदि के—आवरणभूत 'कर्म' हटे होते हैं) तथा वह भयंकर विपत्तियों का कारण सिद्ध होता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत पहले प्रकार के ज्ञान वाले व्यक्ति को किसी वस्तु के संबंध में विघ्न आदि की आशंका (अथवा लाभ आदि की आशा) इसलिए नहीं होती कि वह इस वस्तु के गुण-दोषों से अनभिज्ञ है । दूसरी बात, जैन कर्म-शास्त्र की एक मान्यता है कि एक व्यक्ति के मन में किसी भी प्रकार के ज्ञान का उदय तभी होता है जब वह ज्ञान के आवरण भूत 'कर्मों' को अपनी आत्मा पर से हटा पाता है । लेकिन जैन कर्म-शास्त्र की एक यह भी मान्यता है कि एक घोर संसारी व्यक्ति को होने वाला सभी ज्ञान वस्तुतः अज्ञान है; ('मति' आदि ज्ञान के उप-विभाग हैं) । इसलिए प्रस्तुत पहले प्रकार के ज्ञान के संबंध में आचार्य हरिभद्र कह रहे हैं कि उसके प्रकट होने के अवसर पर ज्ञान के (अर्थात् वास्तविक ज्ञान के) आवरण नहीं हटे होते अथवा यह कि उसके प्रकट होने के अवसर पर अज्ञान के (अर्थात् उस ज्ञान के जो वस्तुतः अज्ञान रूप है) आवरण हटे होते हैं । आचार्य हरिभद्र के शब्दों के ये दो अर्थ एक दूसरे से थोड़ा भिन्न प्रतीत होते हुए भी तत्त्वतः एक ही हैं । सचमुच, हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत अष्टक में आचार्य हरिभद्र पहले तो ज्ञान को दो मुख्य भागों में बाँट रहे हैं एक 'अज्ञान रूप ज्ञान' दूसरा 'ज्ञान रूप ज्ञान' और फिर वे इनमें से दूसरे भाग को दो उप-विभागों में बाँट रहे हैं । यह समझना सरल ही है कि प्रस्तुत पहले प्रकार का ज्ञान 'महापायनिबंधन' कैसे ।

पातादिपरतंत्रस्य तद्दोषादावसंशयम् ।

अनर्थाद्याप्तियुक्तं चात्मपरिणतिमन्मतम् ॥४॥

'शुभ मनोभावना वाला' ज्ञान उस व्यक्ति को होता है जो अधःपतन आदि का वशवर्ती होता है लेकिन जिसका यह ज्ञान अधःपतन आदि के दोष आदि के संबंध में निःसंदिग्ध होता है तथा जिसे यह ज्ञान अनर्थ आदि की प्राप्ति कराता है ।

(टिप्पणी) 'आत्मपरिणति' (अथवा आत्मपरिणाम) इस शब्द को शुभ मनोभावना के पर्याय के रूप में पहले भी देखा जा चुका है और सामान्यतः

समझ यह रही है कि शुभ मनोभावना में तदनुकूल आचार का भी समावेश है, लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में—अर्थात् प्रस्तुत दूसरे प्रकार के ज्ञान के वर्णन के प्रसंग में शुभ मनोभावना में तदनुकूल आचार का समावेश नहीं किया जाना चाहिए। यह इसलिए कि इस प्रकार के ज्ञान की विशेषता यही है कि यह होने पर एक व्यक्ति भले काम को भला तथा बुरे काम को बुरा तो मानने लगता है लेकिन उसके लिए यह संभव नहीं होता कि वह भले कामों को करे तथा बुरे कामों से बचे। इस स्पष्टीकरण की पृष्ठभूमि में आचार्य हरिभद्र की प्रस्तुत कारिका का अर्थ समझने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। प्रस्तुत प्रकार के ज्ञान से संपन्न व्यक्ति को जैन कर्म-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में 'अविरत सम्यग्दृष्टि' कहा गया है—अर्थात् सदबुद्धि-संपन्न ऐसा व्यक्ति जो पाप-विरत होने में असमर्थ है। इसके विपरीत पहले प्रकार के ज्ञान से संपन्न व्यक्ति को 'मिथ्यादृष्टि' (अर्थात् दुर्बुद्धि-संपन्न व्यक्ति) कहा जाएगा—तथा आगामी तीसरे प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को 'विरत सम्यग्दृष्टि' (अंशतः पाप-विरत व्यक्ति को 'देशविरत सम्यग्दृष्टि' तथा पूर्णतः पाप-विरत व्यक्ति को 'सर्वविरत सम्यग्दृष्टि')।

तथाविधप्रवृत्त्यादि व्यंग्यं सदनुबंधि च ।

ज्ञानावरणह्रासोत्थं प्रायो वैराग्यकारणम् ॥५॥

इस प्रकार के ज्ञान की पहचान है तदनुरूप क्रिया आदि (अर्थात् तदनुरूप क्रिया, क्रिया-विरति आदि), दूसरे, ऐसा ज्ञान (तत्काल नहीं लेकिन) आगे चलकर शुभकारी सिद्ध होता है, वह ज्ञान के आवरणों के (अर्थात् ज्ञान के आवरण भूत 'कर्मों' के) ह्रास के फलस्वरूप उत्पन्न होता है तथा वह वैराग्य का कारण प्रायः सिद्ध होता है।

(टिप्पणी) यहाँ 'तदनुरूपक्रिया' का अर्थ है 'भले काम को भला तथा बुरे काम को बुरा समझते हुए भी भले काम न कर पाना तथा बुरे काम कर बैठना'। यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि प्रस्तुत प्रकार का ज्ञान वस्तुतः ज्ञान रूप है—न कि पहले प्रकार के ज्ञान की भाँति वस्तुतः अज्ञान रूप; इसीलिए यहाँ कहा जा रहा है कि इस दूसरे प्रकार के ज्ञान के होते समय ज्ञान के—अर्थात् मति-ज्ञान आदि के आवरणभूत 'कर्म' हटे होते हैं।

स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य तद्धेत्यत्वादिनिश्चयम् ।

तत्त्वसंवेदनं सम्यग्यथाशक्तिफलप्रदम् ॥६॥

‘तत्त्व का संवेदन’ रूप ज्ञान उस व्यक्ति को होता है जो अनाकुल क्रियाकलापों वाला है तथा प्रशान्त चित्त वाला है, और उसका यह ज्ञान अपनी विषयभूत वस्तु के संबंध-में यह निश्चय कर पाता है कि वह त्याग करने योग्य आदि है (अर्थात् त्याग करने योग्य, ग्रहण करने योग्य अथवा उपेक्षा करने योग्य है); साथ ही यह ज्ञान यथार्थ होता है तथा ज्ञान व्यक्ति की शक्ति (=क्रियाशील) के अनुसार फलदायी सिद्ध होता है ।

(टिप्पणी) जैसा कि अगली कारिका में बतलाया जाएगा, इस तीसरे प्रकार के ज्ञान की मुख्य विशेषता यही है कि यह होने पर एक व्यक्ति भले काम को भला तथा बुरे काम को बुरा मानता हो इतना ही नहीं बल्कि वह भले कामों को करता तथा बुरे कामों से बचता भी है । क्योंकि यह तीसरे प्रकार का ज्ञान ही वस्तु-स्वरूप का सच्चा ज्ञान होता है इसलिए इसे ही ‘तत्त्वसंवेदन’ यह नाम दिया जा रहा है ।

न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादि-गम्यमेतत् प्रकीर्तितम् ।

सज्ज्ञानावरणापायं महोदयनिबंधनम् ॥७॥

इस प्रकार के ज्ञान की पहचान बतलाई गई है न्याय्य आदि कामों में (अर्थात् न्याय्य, अन्याय्य आदि कामों में) शुद्ध क्रिया आदि का होना (अर्थात् शुद्ध क्रिया, क्रिया विरति आदि का होना); दूसरे, इस ज्ञान में श्रेष्ठ ज्ञान के (अथवा ज्ञान के) आवरण (अर्थात् आवरणभूत ‘कर्मों’) हटे होते हैं तथा वह मोक्ष का कारण सिद्ध होता है ।

एतस्मिन् सततं यत्नः कुग्रहत्यागतो भृशम् ।

मार्गश्रद्धादिभावेन कार्यं आगमतत्परैः ॥८॥

शास्त्र पर दृढ़ विश्वास रखने वाले व्यक्तियों को चाहिए कि वे दुःशुभ का अत्यन्त त्याग करते हुए तथा मोक्ष-मार्ग में श्रद्धा आदि की भावना रखते हुए इसी प्रकार के ज्ञान की (अर्थात् ‘तत्त्व का संवेदन’ रूप ज्ञान की) प्राप्ति के प्रति सतत प्रयत्न करें ।



वैराग्य

आर्त्तध्यानाख्यमेकं स्यान्मोहगर्भं तथाऽपरम् ।
सज्ज्ञानसंगतं चेति वैराग्यं त्रिविधं स्मृतम् ॥१॥

वैराग्य तीन प्रकार का माना गया है—एक वह जिसका नाम है 'आर्त्त-ध्यान' (शब्दार्थ, दुःखित ध्यान), दूसरा वह जो मोह-गर्भित है, तीसरा वह जो श्रेष्ठ ज्ञान से संयुक्त है ।

(टिप्पणी) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैन-परंपरा ध्यान को अशोभन तथा शोभन दो प्रकार का मानती है । आर्त्त-ध्यान अशोभन ध्यान के दो उप-विभागों में से एक है । इसका स्वरूप अगली दो कारिकाओं में स्पष्ट होगा (और उसके बाद वैराग्य के शेष दो प्रकारों का वर्णन किया जाएगा) ।

इष्टेतरवियोगादिनिमित्तं प्रायशो हि यत् ।
यथाशक्त्यपि हेयादावप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥२॥

उद्वेगकृद्विषादाढ्यमात्मघातादिकारणम् ।
आर्त्तध्यानं ह्यदो मुख्यं वैराग्यं लोकतो मतम् ॥३॥

जिस वैराग्य का कारण प्रायः इष्ट-अनिष्ट से वियोग आदि (अर्थात् वियोग-संयोग) हुआ करते हैं, जो वैराग्य एक व्यक्ति को त्याग करने योग्य आदि (अर्थात् त्याग करने योग्य, ग्रहण करने योग्य आदि) वस्तुओं के प्रति शक्ति भर भी अप्रवृत्तिशील आदि (अर्थात् अप्रवृत्तिशील, प्रवृत्तिशील आदि) नहीं बनाता, जो वैराग्य एक व्यक्ति के मन में उद्वेग उत्पन्न करता है, जो विषाद से भरा-पूरा होता है, जो आत्म-हत्या आदि का कारण बनता है वह वस्तुतः आर्त्त-ध्यान है लेकिन लोक-व्यवहारवश वैराग्य माना जाता है ।

(टिप्पणी) वस्तुतः प्रस्तुत प्रकार के आचरण को वैराग्य एक इसी

आधार पर कहा जा सकता है कि उसके अवसर पर एक व्यक्ति अपनी रुचि के क्रिया-कलापों से विरत हो रहा होता है, लेकिन क्योंकि अपनी रुचि के क्रिया-कलापों से इस व्यक्ति के इस प्रकार विरत होने का कारण सदबुद्धि नहीं विवशता है उसका यह तथा-कथित वैराग्य सच्चा वैराग्य नहीं ।

एको नित्यस्तथाऽबद्धः क्षय्यसद्वेह सर्वथा ।
आत्मेति निश्चयाद् भूयो भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥४॥

तत्त्यागायोपशान्तस्य सद्वृत्तस्यापि भावतः ।
वैराग्यं तद्गतं यत् तन्मोहगर्भमुदाहृतम् ॥५॥

‘आत्मा सर्वथा एक है’, ‘आत्मा सर्वथा अपरिवर्तिष्णु है’, ‘आत्मा सर्वथा अ-बद्ध (अर्थात् ‘कर्म’-बद्ध नहीं) है’, ‘आत्मा सर्वथा विनाशशील (अर्थात् क्षणिक) है’, ‘आत्मा सर्वथा है ही नहीं’ इत्यादि प्रकार का विश्वास उदय होने के फलस्वरूप और फिर संसार की निर्गुणता को देखने के फलस्वरूप जब एक व्यक्ति इस संसार को त्याग करने के उद्देश्य से अपने मन को शान्त बनाता है तब उस व्यक्ति का यह संसार-विषयक वैराग्य—भले ही वह व्यक्ति सच्चे अर्थ में सदाचारी क्यों न हो—‘मोह-गर्भित’ वैराग्य कहलाता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिकाओं में आचार्य हरिभद्र कतिपय ऐसी दार्शनिक मान्यताएँ गिना रहे हैं जिन्हें स्वीकार करने पर भी संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होना संभव है, लेकिन क्योंकि स्वयं आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में ये दार्शनिक मान्यताएँ स-दोष हैं वे इस प्रकार के वैराग्य को ‘मोहगर्भित’ कह रहे हैं । उदाहरण के लिए, ‘आत्मा सर्वथा एक तथा अपरिवर्तिष्णु है’ यह मान्यता अद्वैत वेदान्तियों की है, ‘आत्मा सर्वथा अ-बद्ध है’ यह मान्यता सांख्यमतानुयायियों की है, ‘आत्मा सर्वथा क्षणिक है’ यह मान्यता बौद्धों की है (बशर्ते कि यहाँ इतना जोड़ दिया जाए कि बौद्ध विचारक आत्मा का निर्देश ‘चित्त’ अथवा ‘मन’ इस नाम से किया करते हैं), ‘आत्मा सर्वथा है ही नहीं’ इसे भी एक बौद्ध मान्यता माना जा सकता है (बशर्ते कि यहाँ इतना जोड़ दिया जाए कि उसी तत्त्व को जिसे अन्य विचारक ‘आत्मा’ कहते हैं बौद्ध विचारक ‘चित्त’ अथवा ‘मन’ कहते हैं)★

★ अथवा कहा जा सकता है कि ‘आत्मा सर्वथा है ही नहीं’ यह अजित केशकम्बली जैसे उन विचारकों की मान्यता है जो भौतिकवादी होते हुए भी गृह-त्यागी भिक्षु थे ।

भूयांसो नामिनो बद्धा बाह्येनेच्छादिना ह्यमी ।
आत्मानस्तद्वशात् कष्टं भवे तिष्ठन्ति दारुणे ॥६॥

एवं विज्ञाय तत्त्यागविधिस्त्यागश्च सर्वथा ।
वैराग्यमाहुः सज्ज्ञानसंगतं तत्त्वदर्शिनः ॥७॥

‘आत्माएँ अनेक हैं’, ‘आत्माएँ परिवर्तनशील हैं’, ‘आत्माएँ इच्छा (अर्थात् राग) आदि से (अर्थात् इच्छा आदि के कारणभूत ‘कर्मों’ से)—जो इच्छा आदि इन आत्माओं से पृथक् पदार्थ हैं—बद्ध होती हैं तथा इस प्रकार बद्ध होने के फलस्वरूप दारुण संसार-चक्र में कष्टपूर्वक भ्रमण करती हैं—इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जो व्यक्ति इच्छा आदि के त्याग की तैयारी तथा इच्छा आदि का सर्वथा त्याग करता है उसके वैराग्य को तत्त्ववेत्ताओं ने ‘श्रेष्ठज्ञान से संयुक्त’ वैराग्य कहा है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिकाओं में गिनाई गई सभी दार्शनिक मान्यताएँ जैन परंपरा की अपनी मान्यताएँ हैं और इसीलिए इन मान्यताओं को स्वीकार करने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले वैराग्य को आचार्य हरिभद्र ‘सज्ज्ञानसंगत’ कह रहे हैं । इच्छा आदि के कारणभूत ‘कर्मों’ को आत्मा से बाह्य (अर्थात् पृथक्) कहने के पीछे आशय यह है कि ये ‘कर्म’ एक प्रकार के भौतिक पदार्थ हैं, (‘कर्मों’ को एक प्रकार का भौतिक पदार्थ मानना जैन-परंपरा की एक अपनी विशिष्टता है) ।

एतत्तत्त्वपरिज्ञानान्नियमेनोपजायते ।
यतोऽत्र साधनं सिद्धैतदेवोदितं जिनैः ॥८॥

क्योंकि इस प्रकार का वैराग्य तत्त्व-ज्ञान के फलस्वरूप अवश्य ही उत्पन्न होता है इसलिए पूज्य शास्त्रकारों का कहना है कि मुक्ति का साधन सिद्ध होने वाला वैराग्य यही है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका से जाना जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में मोक्ष का कारण सिद्ध होने वाला वैराग्य वही है जो उन दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकार करके चले जिन्हें जैन-परंपरा स्वीकार करती है ।



दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत् ।
कर्मोदयस्वरूपत्वाद् बलीवर्दादिदुःखवत् ॥१॥

(तप के संबंध में किसी की शंका है) “कुछ लोग तप को दुःख रूप मानते हैं लेकिन उनका ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि दुःख तो एक ‘कर्म’-विशेष का (अर्थात् ‘असातवेदनीय’ नाम वाले ‘कर्म’ का) उदय रूप है—उसी प्रकार जैसे बैल आदि को होने वाला दुःख ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत वादी की शंका का आशय यह है कि दुःखानुभूति तप का भाग नहीं होनी चाहिए । इस शंका के उत्तर में आचार्य हरिभद्र कहेंगे कि यद्यपि थोड़ी-बहुत दुःखानुभूति तप का भाग कभी कभी होती है लेकिन वह उसका सार-भाग नहीं । प्रस्तुत अष्टक की एक दूसरी व्याख्या के अनुसार इस कारिका में आचार्य हरिभद्र पूर्वपक्षी का मत प्रस्तुत कर रहे हैं (और यह मत या तो ‘दुःखात्मकं तपः’ केवल इतना है या ‘दुःखात्मकं तपः, कर्मोदयस्वरूपत्वाद्, बलीवर्दादिदुःखवत्’ इतना) । उस दशा में कहना होगा कि पूर्वपक्षी दुःखानुभूति को तप का सार-भाग स्वयं मान रहा है—लेकिन तब भी आचार्य हरिभद्र का कहना यही होगा कि यद्यपि थोड़ी बहुत दुःखानुभूति तप का भाग कभी होती है लेकिन वह तप का सार-भाग नहीं । ‘असातवेदनीय कर्म’ जैन कर्म-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है और यह इस ‘कर्म’ का द्योतक है जिसके फलस्वरूप एक व्यक्ति को दुःख की अनुभूति होती है ।

सर्व एव च दुःख्येवं तपस्वी संप्रसज्यते ।
विशिष्टस्तद्विशेषेण सुधनेन धनी यथा ॥२॥

और ऐसी दशा में (अर्थात् तप को दुःख रूप मानने पर) सभी दुःखी तपस्वी ठहरेंगे तथा विशिष्ट तपस्वी वह व्यक्ति ठहरेगा जिसका दुःख विशेष कोटि का हो, उसी प्रकार जैसे विशिष्ट धनी वह व्यक्ति कहलाता है जिसका धन प्रचुर मात्रा वाला हो ।

महातपस्विनश्चैवं त्वन्नीत्या नारकादयः ।

शमसौख्यप्रधानत्वाद् योगिनस्त्वतंपस्विनः ॥३॥

फिर इस प्रकार आपकी मान्यता स्वीकार करने पर (अर्थात् तप को दुःखरूप मानने पर) नरकवासी प्राणी आदि महातपस्वी ठहरेंगे तथा योगी लोग अ-तपस्वी ठहरेंगे, और वह इसलिए कि योगी लोग शान्ति रूपी सुख से भरे-पूरे होते हैं ।

युक्त्यागमबहिर्भूतमतस्त्याज्यमिदं बुधैः ।

अशस्तध्यानजननात् प्राय आत्मापकारकम् ॥४॥

अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे युक्ति तथा शास्त्र दोनों के विपरीत जाने वाले इस तप को (अर्थात् दुःख रूप तप को) तिलांजलि दें, उस तप को जो अशोभन प्रकार के ध्यान को प्रायः जन्म देकर आत्मा का अपकारी सिद्ध होता है ।”

मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः ।

यतोऽत्र तत् कथं त्वस्य युक्ता स्याद् दुःखरूपता ॥५॥

(इस पर हमारा उत्तर है) पूज्य शास्त्रकारों का कहना है कि तप के अवसर पर एक व्यक्ति का न तो मन खिन्न हो रहा होता है, न उसकी इन्द्रियाँ और न ही उसके कोई क्रिया-कलाप, और जब बात ऐसी है तब तप को दुःख रूप मानना कैसे उचित ?

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि तप के अवसर पर एक व्यक्ति का मन तथा उसकी इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहनी चाहिए और साथ ही उसके शारीरिक, वाचिक, मानसिक क्रिया-कलाप भी स्वस्थ भाव से सम्पन्न होते रहने चाहिए । उनकी दृष्टि में इस प्रकार की स्वस्थता ही दुःख-शून्यता है । ‘योग’ का अर्थ ‘शारीरिक, वाचिक, मानसिक क्रिया-कलाप’ यह जैनपरंपरा ही करती है ।

याऽपि चानशनादिभ्यः कायपीडा मनाक् क्वचित् ।

व्याधिक्रियासमा साऽपि नेष्टसिद्ध्याऽत्र बाधनी ॥६॥

और जो (तप के अवसर पर) अनशन आदि से थोड़ी सी शरीर-पीडा कभी कहीं होती है वह भी क्योंकि अभीष्ट-सिद्धि कराती है इसलिए उसे भी

”

पथ की बाधा नहीं मानना चाहिए—उसी प्रकार जैसे रोग की चिकित्सा को पथ की बाधा नहीं मानना चाहिए (यद्यपि इस चिकित्सा में थोड़ी सी शरीर-पीड़ा कभी कहीं होती है) ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आए 'क्वचित्' इस शब्द के प्रयोग से जाना जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र शारीरिक पीड़ा को तप का अनिवार्य भाग नहीं मानते । और जो शारीरिक पीड़ा किसी तप में कभी नहीं होती है उसके संबंध में उनकी समझ है कि तपस्वी उससे दुःखित नहीं होता ।

दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ कायपीडा ह्यदुःखदा ।

रत्नादिवणिगादीनां तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

फिर हम देखते ही हैं कि रत्न आदि के व्यापारी आदि को होने वाली शरीरपीड़ा उन्हें दुःख नहीं पहुँचाती और वह तब जब वह उनकी अभीष्ट-सिद्धि कर चुकी होती है—ठीक ऐसी ही बात यहाँ भी (अर्थात् तप के संबंध में भी) समझनी चाहिए ।

(टिप्पणी) 'रत्नादिवणिगादि' का प्रस्तुत दृष्टान्त पिछली कारिका के 'व्याधिक्रिया' के दृष्टान्त के ठीक समान है । टीकाकार के कथनानुसार प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र का इंगित रत्नवणिक् संबंधी एक कथाविशेष की ओर है ।

विशिष्ट-ज्ञान-संवेग-शमसारमतस्तपः ।

क्षायोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसुखात्मकम् ॥८॥

अतः तप के संबंध में समझना चाहिए कि वह विशिष्ट ज्ञान से, संसार के प्रति भय की भावना से (अथवा मोक्ष के प्रति अभिलाषा की भावना से) तथा मन की शान्ति से भरा-पूर होता है, यह कि वह किन्हीं 'कर्मों' की (अर्थात् 'चरित्रमोहनीय' नाम वाले 'कर्मों' की) वेग-शान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, तथा यह कि वह बाधा-हीन सुख रूप होता है ।

(टिप्पणी) जैन कर्म-शास्त्र की परिभाषानुसार चरित्र-मोहनीय 'कर्म' वे हैं जिनका वेग शान्त होने पर ही एक व्यक्ति के लिए सदाचरण की दिशा में आगे बढ़ना संभव होता है ।



वाद (शास्त्रार्थ)

शुष्कवादो विवादश्च धर्मवादस्तथाऽपरः ।

इत्येष त्रिविधो वादः कीर्तितः परमर्षिभिः ॥१॥

महर्षियों ने वाद तीन प्रकार का बतलाया है—एक शुष्क वाद, दूसरा विवाद और तीसरा धर्मवाद ।

(टिप्पणी) वाद के इन तीनों प्रकारों का वर्णन आगामी कारिकाओं में मिलेगा—जिससे इस बात का भी आभास हो जाएगा कि इनके ये ये नाम क्यों हैं ।

अत्यन्तमानिना सार्धं क्रूरचित्तेन च दृढम् ।

धर्मद्विष्टेन मूढेन शुष्कवादस्तपस्विनः ॥२॥

अत्यन्त अभिमानी, क्रूरचित्त, मूर्ख तथा पक्के धर्मद्वेषी किसी व्यक्ति के साथ होने वाला एक तपस्वी का वाद 'शुष्क-वाद' कहलाता है ।

विजयेऽस्यातिपातादि लाघवं तत्पराजयात् ।

धर्मस्येति द्विधाऽप्येष तत्त्वतोऽनर्थवर्धनः ॥३॥

ऐसे वाद में यदि तपस्वी की विजय हो तब (पराजित) प्रतिवादी की मृत्यु आदि हो जाती है और यदि प्रतिवादी के हाथों तपस्वी की पराजय हो तब धर्म की प्रतिष्ठा गिरती है—इस प्रकार दोनों ही दशाओं में यह वाद वस्तुतः अनर्थ की वृद्धि करता है ।

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनाऽमहात्मना ।

छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः ॥४॥

लाभ एवं ख्याति के इच्छुक, अस्वस्थचित्त (अथवा दरिद्र) तथा अनुदार किसी व्यक्ति के साथ होने वाला वाद—वह वाद जिसमें छल तथा जाति की (अर्थात् चाल-बाजियों तथा खोखले आरोपों की) भरमार हो—'विवाद'

कहलाता है ।

(टिप्पणी) 'छल' तथा 'जाति' ये न्यायशास्त्र के दो पारिभाषिक शब्द हैं लेकिन उनका फलितार्थ उपरोक्त ही है ।

विजयो ह्यत्र सन्नीत्या दुर्लभस्तत्त्ववादिनः ।

तद्भावेऽप्यन्तरायादिदोषोऽदृष्टविघातकृत् ॥५॥

इस प्रकार के वाद में ईमानदारी से विजय पाना एक सत्यवादी व्यक्ति के लिए कठिन है और यदि इसमें उसे विजय मिल भी जाए तो भी उसका परलोक बिगड़ता ही है—वह इसलिए कि उस दशा में पराजित व्यक्ति के पथ में विघ्न उपस्थित होना आदि दोष यहाँ उठ खड़े होते हैं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि लाभ की इच्छा से वाद के मैदान में उतरने वाला व्यक्ति यदि वाद में पराजित हो जाए तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसके पथ में (अर्थात् उसकी लाभ-प्राप्ति के पथ में) विघ्न उपस्थित हो गया । और इस विघ्न का निमित्त कारण—अतएव पाप का भागी—होगा वाद-विजेता तपस्वी ।

परलोकप्रधानेन मध्यस्थेन तु धीमता ।

स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन धर्मवाद उदाहृतः ॥६॥

परलोक की चिन्ता मुख्य भाव से करने वाले, तटस्थ-चित्त, बुद्धिमान, तथा अपने अभीष्ट शास्त्र के मूल-मन्तव्य को जानने वाले एक व्यक्ति के साथ होने वाला वाद 'धर्मवाद' कहलाता है ।

विजयेऽस्य फलं धर्मप्रतिपत्त्याद्यर्निदितम् ।

आत्मनो मोहनाशश्च नियमात्तपराजयात् ॥७॥

ऐसे वाद में विजय पाने का फल होता है उक्त व्यक्ति द्वारा धर्म का स्वीकार किया जाना आदि निर्दोष काम और उक्त व्यक्ति के हाथों पराजय पाने का अवश्यंभावी फल होता है अपने मोह का नाश ।

(टिप्पणी) स्पष्ट ही यहाँ 'धर्म' से आचार्य हरिभद्र का आशय जैन धर्म से होना चाहिए । लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि एक जैनेतर सद्वादी के हाथों एक जैन की पराजय की उपयोगिता भी उन्हें स्वीकार है ।

देशाद्यपेक्षया चेह विज्ञाय गुरुलाघवम् ।

तीर्थकृज्ज्ञातमालोच्य वादः कार्यो विपश्चिता ॥८॥

एक बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह वाद के मैदान में भली भाँति यह समझकर उतरे कि अमुक परिस्थिति में स्थान आदि की दृष्टि से (अपने लिए तथा धर्म के लिए) गौरवकारी बात क्या ठहरेगी और लाघवकारी बात क्या —साथ ही उसे चाहिए कि वह तीर्थकरों के दृष्टान्त पर सोच-विचार करके वाद के मैदान में उतरे ।

(टिप्पणी) 'तीर्थकर' (= 'जिन') जैन-परंपरा का एक पारिभाषिक शब्द है और इस परंपरा की मान्यतानुसार तीर्थकर होना एक संसारी व्यक्ति के चरम सौभाग्य का सूचक है । एक तीर्थकर अपने इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करते हैं यह उनकी बड़ी विशेषता नहीं—क्योंकि अपने इसी जन्म में मोक्ष तो दूसरे व्यक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं । एक तीर्थकर की बड़ी विशेषता यह है कि वे जैन धर्म की मौलिक मान्यताओं का प्रामाणिक निरूपण करने के अधिकारी हैं । यह भी जान लिया जाए कि 'तीर्थकर' एक प्रकार के शुभ 'कर्म' का नाम है जिसका अर्जन अति-विशिष्ट पुण्यशाली वे व्यक्ति किया करते हैं जो अपने इस 'कर्म' के फलस्वरूप अपने किसी आगामी जन्म में जाकर तीर्थकर होते हैं । आज के जैनों की दृष्टि में अन्तिम तीर्थकर हुए हैं वर्धमान महावीर (समय ५९९-५२७ ई० पू०) तथा उनसे पहले तीर्थकर पार्श्वनाथ (समय ७९९-६९९ ई० पू०) । प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र कह रहे हैं कि तीर्थकरगण जिन परिस्थितियों में वाद के मैदान में उतरे हैं वे ही परिस्थितियाँ वाद के मैदान में उतरने के लिए आदर्श हैं ।



धर्मवाद

विषयो धर्मवादस्य तत्तन्त्रव्यपेक्षया ।

प्रस्तुतार्थोपयोग्येव धर्मसाधनलक्षणः ॥१॥

धर्मवाद का विषय—जो ही प्रस्तुत प्रसंग में (अर्थात् मोक्ष के प्रसंग में) उपयोगी है—यह प्रश्न है कि उन उन चिन्तन-परंपराओं के मतानुसार धर्म के साधन कौन कौन से हैं ।

(टिप्पणी) टीकाकार के कथनानुसार यहाँ 'धर्म' इस शब्द का अर्थ होगा "पूर्वाजितकर्मों" का नाश होना (पारिभाषिक नाम - 'निर्जरा') तथा नए 'कर्मों' का अर्जन रुकना (पारिभाषिक नाम - 'संवर')" । अतः यहाँ 'धर्म-साधन' इस शब्द का अर्थ होगा वे पवित्र क्रिया-कलाप जिनके फलस्वरूप एक प्राणी के पूर्वाजित 'कर्मों' का नाश होता है तथा उसके द्वारा नए 'कर्मों' का अर्जन रुकता है ।

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥२॥

सभी धार्मिक व्यक्तियों की दृष्टि में धर्म के पवित्र साधन ये पाँच हैं : अहिंसा, सत्य, अ-चौर्य, त्याग (= अनासक्ति, अ-परिग्रह), मैथुन-विरति (= ब्रह्मचर्य) ।

(टिप्पणी) इन्हीं पाँच चरित्र - सद्गुणों - को सांख्य-योग परंपरा की पारिभाषिक शब्दावली में 'यम' तथा जैन-परंपरा की पारिभाषिक शब्दावली में 'महाव्रत' कहा गया है ।

क्व खल्वेतानि युज्यन्ते मुख्यवृत्त्या क्व वा नहि ।

तन्त्रे तत्तन्त्रनीत्यैव विचार्य तत्त्वतो ह्यदः ॥३॥

धर्मार्थिभिः प्रमाणादेर्लक्षणं न तु युक्तिमत् ।

प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः ॥४॥

धर्माभिलाषी व्यक्तियों को चाहिए कि वे इसी प्रश्न पर विचार करें कि धर्म के उक्त साधन किस चिन्तनपरंपरा के मतानुसार वास्तविक अर्थ में संभव सिद्ध होते हैं तथा किस चिन्तन-परंपराओं के अनुसार नहीं, और यह विचार किया जाना चाहिए उन उन चिन्तन परंपराओं की अपनी अपनी प्रतिपादन-शैली का अनुसरण करते हुए। दूसरी ओर, प्रमाण आदि के लक्षण पर विचार करना (धर्माभिलाषी व्यक्तियों के लिए) उचित नहीं और वह इसलिए कि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसा कि महामति का कहना है :

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र के मतानुसार सद्-वाद का विषय होना चाहिए आचारशास्त्रीय मान्यताएँ (तथा तत्संबंधित सत्ताशास्त्रीय मान्यताएँ) न कि प्रमाणशास्त्रीय मान्यताएँ। टीकाकार के कथनानुसार यहाँ 'महामति' से आचार्य हरिभद्र का आशय आचार्य सिद्धसेन से है।

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।

प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥५॥

प्रमाण कौन कौन से हैं यह बात सब लोगों के निकट प्रसिद्ध हैं और इन प्रमाणों की सहायता से दैनंदिन व्यवहार भी चल ही जाता है; ऐसी दशा में हमारी समझ में नहीं आता कि प्रमाण का लक्षण कहने से किसी का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।”

प्रमाणेन विनिश्चित्य तदुच्येत न वा ननु ।

अलक्षितात् कथं युक्ता नान्यतोऽस्य विनिश्चितिः ॥६॥

सत्यां चास्यां तदुक्त्या किं तद्वद् विषयनिश्चितेः ।

तत एवाविनिश्चित्य तस्योक्तिर्ध्यान्ध्यमेव हि ॥७॥

आखिरकार, हम पूछते हैं कि यह प्रमाण का लक्षण प्रमाण द्वारा निश्चय करके कहा जाएगा या प्रमाण द्वारा निश्चय किए बिना ही। (यदि माना जाए कि प्रमाण का लक्षण प्रमाण द्वारा निश्चय करके कहा जाएगा तो हम पूछते हैं कि) जिस प्रमाण का अभी लक्षण ही नहीं हुआ उसके द्वारा प्रमाण-लक्षण का निश्चय किया जाना कैसे उचित होगा। और यदि माना जाए कि ऐसा हो सकता है (अर्थात् यह कि जिस प्रमाण का लक्षण नहीं हुआ उसके द्वारा प्रमाण-लक्षण का निश्चय हो सकता है) तो हम पूछेंगे कि तब प्रमाण का लक्षण कहने से लाभ क्या?—क्योंकि तब तो जिस प्रकार लक्षण बिना किए गए प्रमाण के

द्वारा प्रमाण लक्षण का निश्चय होता है उसी प्रकार लक्षण बिना किए गए प्रमाण के द्वारा-प्रमाण विषय का भी निश्चय हो जाना चाहिए । और यदि माना जाए कि प्रमाण का लक्षण प्रमाण द्वारा निश्चय किए बिना कहा जाएगा तो हमारा उत्तर है कि इस प्रकार प्रमाण-लक्षण कहना मनमानी करना है (अथवा बुद्धि का अंधापन है) ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि प्रमेय का स्वरूप जानने के लिए प्रमाण के उपयोग करना निश्चय ही आवश्यक है लेकिन प्रमाण का स्वरूप जानना आवश्यक नहीं; वरना तो कहा जा सकेगा कि प्रमाण का स्वरूप जानने के लिए भी प्रमाण का उपयोग करना ही नहीं, प्रमाण का स्वरूप जानना भी आवश्यक है । लेकिन 'प्रमाण का स्वरूप जानने के लिए प्रमाण का स्वरूप जानना आवश्यक है' यह कहना एक बेतुकी बात है । और यदि प्रमाण का स्वरूप जानना, न प्रमाण का स्वरूप जानने के लिए आवश्यक है, न प्रमेय का स्वरूप जानने के लिए तो प्रमाण का स्वरूप जानना एक व्यर्थ का काम है ।

तस्माद्यथोदितं वस्तु विचार्य रागवर्जितैः ।

धर्मार्थिभिः प्रयत्नेन तत इष्टार्थसिद्धिम् ॥८॥

इसलिए राग-शून्य धर्माभिलाषी व्यक्तियों को चाहिए कि वे उपरोक्त विषय-वस्तु पर ही (अर्थात् धर्म के साधनों के स्वरूप पर ही) प्रयत्नपूर्वक विचार करें क्योंकि उसी से उनके अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि होगी ।



एकांगी नित्यत्ववाद का खंडन

तत्रात्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम् ।

हिंसादयः कथं तेषां युज्यन्ते मुख्यवृत्तितः ॥१॥

अब यहाँ (अर्थात् धर्म के साधनों की चर्चा के प्रसंग में) प्रश्न उठता है कि जिन वादियों की एकांगी मान्यता यह है कि आत्मा नित्य ही है उनके मतानुसार हिंसा आदि वास्तविक अर्थ में संभव कैसे ।

निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुचित् ।

किञ्चित् केनचिदित्येवं न हिंसाऽस्योपपद्यते ॥२॥

प्रस्तुत वादी के मतानुसार क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है इसलिए न तो कभी किसी को कोई मारता है न कभी किसी के द्वारा कोई मारा जाता है; और ऐसी दशा में उसके मतानुसार हिंसा संभव ही नहीं बनती ।

अभावे सर्वथैतस्याः अहिंसाऽपि न तत्त्वतः ।

सत्यादीन्यपि सर्वाणि नाहिंसासाधनत्वतः ॥३॥

और हिंसा के सर्वथा अभाव की अवस्था में अहिंसा भी वस्तुतः संभव सिद्ध नहीं होती; साथ ही उस दशा में सत्य आदि शेष धर्मसाधन भी संभव-सिद्ध नहीं होते और वह इसलिए कि वे सब अहिंसा के ही तो उपकारक हैं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र की समझ है कि अहिंसा सत्य आदि पाँच चरित्र-सद्गुणों में अहिंसा एक मूल-सद्गुण है तथा सत्य आदि उसके चार सहायक सद्गुण ।

ततः सन्नीतितोऽभावादमीषामसदेव हि ।

सर्वं यमाद्यनुष्ठानं मोहसंगतमेव वा ॥४॥

इस प्रकार जब इनकी (अर्थात् अहिंसा, सत्य आदि की) सत्ता सबल तर्क द्वारा सिद्ध नहीं तब यम आदि का (अर्थात् यम, नियम आदि का) पालन

या तो असंभव सिद्ध होगा या एक मूढ़ता का क्लम सिद्ध होगा ।

(टिप्पणी) निम्नलिखित पाँच चरित्रसद्गुणों को सांख्य-योग परंपरा में 'नियम' इस नाम से जाना जाता है :- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान । और जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस परंपरा में 'यम' इस नाम से जाने जाते हैं अहिंसा, सत्य आदि पाँच चरित्र-सद्गुण ।

शरीरेणापि संबन्धो नात एवास्य संभवः ।

तथा सर्वगतत्वाच्च संसारश्चाप्यकल्पितः ॥५॥

और इसलिए (अर्थात् निष्क्रिय होने के कारण ही) आत्मा का शरीर से संबंध होना भी युक्तिसंगत नहीं; दूसरे, (प्रस्तुतवादी के मतानुसार) आत्मा के सर्वव्यापी होने के कारण उसका संसारचक्र में भ्रमण भी एक अ-कल्पनिक (अर्थात् वास्तविक) अर्थ में संभव नहीं ।

(टिप्पणी) एक निष्क्रिय आत्मा का शरीर से संबंध इसलिए संभव नहीं कि संबंध एक क्रिया है; और संसारचक्र में भ्रमण तो स्पष्ट ही एक क्रिया है ।

ततश्चोर्ध्वगतिर्धर्मादधोगतिरधर्मतः ।

ज्ञानान्मोक्षश्च वचनं सर्वमेवौपचारिकम् ॥६॥

और उस दशा में यह सब कहना एक औपचारिक बात सिद्ध होगी कि धर्माचरण के फलस्वरूप एक आत्मा उन्नत गति प्राप्त करती है, अधर्माचरण के फलस्वरूप एक आत्मा पतित गति प्राप्त करती है, ज्ञान से एक आत्मा को मोक्ष मिलती है ।

भोगाधिष्ठानविषयेऽप्यस्मिन् दोषोऽयमेव तु ।

तद्भेदादेव भोगोऽपि निष्क्रियस्य कुतो भवेत् ॥७॥

यह मानने पर भी कि संसार-चक्र में भ्रमण आत्मा के भोग का आश्रयभूत शरीर करता है उक्त दोष बना ही रहेगा । दूसरे, भाग भी तो एक प्रकार की क्रिया ही है और एक निष्क्रिय आत्मा में वह संभव कैसे होगा ?

(टिप्पणी) यह एक सांख्य-योग मान्यता है कि आत्मा एक निष्क्रिय तथा सर्वव्यापी पदार्थ है; इसलिए यहाँ माना जाता है कि संसार-चक्र में भ्रमण एक आत्मा नहीं करती बल्कि इस आत्मा का 'सूक्ष्म शरीर' करता है । 'सूक्ष्म शरीर' के संबंध में इतना ही जान लेना आवश्यक है कि वह मरकर भस्मीभूत

हो जाने वाले शरीर से भिन्न है तथा उसका निर्माण मन, बुद्धि, अहंकार आदि कतिपय अ-भौतिक पदार्थों से हुआ होता है। आचार्य हरिभद्र की आपत्ति है कि जब एक आत्मा का एक सूक्ष्म शरीर से संबंध ही संभव नहीं तब इस सूक्ष्म शरीर के संसार-चक्र में भ्रमण को इस आत्मा का संसार-चक्र में भ्रमण कहना कोई अर्थ नहीं रखता। साथ ही आचार्य हरिभद्र एक दूसरी सांख्य-योग मान्यता की भी आलोचना कर रहे हैं। वह मान्यता यह है कि अपने स्थूल-सूक्ष्म शरीर को आधार बनाकर एक आत्मा उन उन सुख-दुःख आदि का भोग करती है; आचार्य हरिभद्र का पूछना है कि जब भोग एक क्रिया है तब एक निष्क्रिय आत्मा के लिए किसी प्रकार का भोग करना संभव कैसे।

इष्यते चेत् क्रियाऽप्यस्य सर्वमेवोपपद्यते ।

मुख्यवृत्त्याऽनघं किन्तु परसिद्धान्तसंश्रयः ॥८॥

हाँ, यदि प्रस्तुतवादी आत्मा में क्रिया संभव मान ले तो उक्त सब बातें (अर्थात् एक व्यक्ति द्वारा अहिंसा, सत्य आदि का पालन, एक आत्मा का संसार-चक्र में भ्रमण, एक आत्मा की मोक्ष, आदि। निर्दोष रूप से तथा वास्तविक अर्थ में संभव बन जाएगी, लेकिन तब तो वह (अपने सिद्धान्त का नहीं) दूसरे के सिद्धान्त का आश्रय ले रहा होगा।



एकांगी अनित्यत्ववाद का खंडन

क्षणिकज्ञानसंतानपक्षेऽप्यात्मन्यसंशयम् ।

हिंसादयो न तत्त्वेन स्वसिद्धान्तविरोधतः ॥१॥

यदि आत्मा को एक-क्षणस्थायी ज्ञानों का प्रवाह रूप माना जाए तो भी हिंसा आदि निःसंदिग्ध रूप से तथा वास्तविक अर्थ में असंभव ही बने रहेंगे और वह इसलिए कि यदि ऐसा न हो (अर्थात् यदि प्रस्तुतवादी हिंसा आदि को वास्तविक अर्थ में संभव मान ले) तो प्रस्तुतवादी अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जा रहा होगा ।

(टिप्पणी) यह एक बौद्धमान्यता है कि आत्मा अर्थात् चेतन-तत्त्व (वस्तुतः बौद्ध-परंपरा चेतन-तत्त्व के लिए 'आत्मा' यह नाम देना अत्यन्त अनुचित मानती है) एक क्षणस्थायी ज्ञानों का प्रवाह मात्र है ।

नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य संस्थितिः ।

नाशस्य चान्यतोऽभावे भवेद्धिंसाऽप्यहेतुका ॥२॥

प्रस्तुतवादी एक वस्तु को क्षणिक यह कहकर सिद्ध करता है कि इस वस्तु के नाश का कोई कारणसंभव नहीं; लेकिन यदि एक वस्तु का नाश एक अन्य वस्तु के द्वारा संभव नहीं तो हिंसा का भी कोई कारण संभव नहीं ।

(टिप्पणी) क्षणिकवादी बौद्धों का कहना है कि उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाना एक वस्तु का स्वभाव है । फिर इन बौद्धों का तर्क है कि जो अवस्था जिस वस्तु में स्वभावतः रहती है उसके उस वस्तु में रहने का कोई कारण संभव नहीं—अर्थात् एक वस्तु के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाने का कोई कारण संभव नहीं । 'नाशनिर्हेतुकतावाद' का वास्तविक आशय इतना ही है । इस पर आचार्य हरिभद्र की आपत्ति है कि कोई वस्तु किसी वस्तु के नाश का कारण नहीं, यह कहने का अर्थ है कि कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हिंसा का कारण नहीं ।

ततश्चास्याः सदा सत्ता कदाचिन्नैव वा भवेत् ।
कादाचित्कं हि भवनं कारणोपनिबंधनम् ॥३॥

और उस दशा में यह हिंसा या तो सदा उपस्थित रहनी चाहिए या कभी उपस्थित नहीं; यह इसलिए कि एक वस्तु का एक समयविशेष पर उत्पन्न होना किसी कारण पर निर्भर करता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय है कि 'इस वस्तु का कोई कारण नहीं' यह बात एक ऐसी वस्तु के संबंध में ही कही जा सकती है जो या तो शाश्वत हो या अ-वास्तविक; ऐसी दशा में 'हिंसा का कोई कारण नहीं' यह कहने का अर्थ हुआ कि हिंसा या तो एक शाश्वत वस्तु है या एक अ-वास्तविक वस्तु ।

न च संतानभेदस्य जनको हिंसको भवेत् ।
सांवृतत्वान्न जन्यत्वं यस्मादस्योपपद्यते ॥४॥

प्रस्तुतवादी यह भी नहीं कह सकता कि एक उपस्थित क्षण-प्रवाह से भिन्न प्रवाह के क्षण-प्रवाह को जन्म देने वाला व्यक्ति हिंसक कहलाता है; यह इसलिए कि प्रस्तुतवादी के मतानुसार क्षणों का यह 'प्रवाह' एक काल्पनिक वस्तु है जबकि एक काल्पनिक वस्तु के जन्म का प्रश्न नहीं उठता ।

(टिप्पणी) क्षणिकवादी का कहना है कि (उदाहरण के लिए) जब एक शिकारी एक हरिण को मारता है और यह हरिण मरकर मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है तब यह शिकारी इस हरिण का हिंसक इसलिए है कि उसने हरिण-जीवन प्रवाह के स्थान पर मनुष्य-जीवनप्रवाह को जन्म दिया । आचार्य हरिभद्र की आपत्ति है कि 'जीवन-प्रवाह' कोई क्षणिक वस्तु नहीं और एक क्षणिकवादी की दृष्टि में प्रत्येक वह वस्तु जो क्षणिक नहीं वास्तविक नहीं; लेकिन एक अ-वास्तविक वस्तु को जन्म देने की बात बेतुकी है ।

न च क्षणविशेषस्य तेनैव व्यभिचारतः ।
तथा च सोऽप्युपादानभावेन जनको मतः ॥५॥

प्रस्तुतवादी यह भी नहीं कह सकता कि एक क्षण-विशेष को जन्म देने वाला व्यक्ति हिंसक कहलाता है, यह इसलिए कि इस क्षणविशेष के तत्कालपूर्ववर्ती क्षण पर भी यह वर्णन लागू होता है । यद्यपि यह पूर्ववर्ती क्षण किसी प्रकार का हिंसक नहीं; आखिरकार, प्रस्तुतवादी की यह मान्यता है ही

कि एक क्षण-विशेष का तत्कालपूर्ववर्ती क्षण इस क्षण-विशेष का उपादान कारण होता है ।

(टिप्पणी) यदि पिछली टिप्पणी के दृष्टान्त को ध्यान में रखा जाए तो क्षणिकवादी कह रहा है कि शिकारी मनुष्य-जीवनप्रवाह का कारण नहीं बल्कि इस मनुष्य-जीवनप्रवाह के प्रथम क्षण का कारण है । आचार्य हरिभद्र की आपत्ति है कि मनुष्य-जीवनप्रवाह के प्रथम क्षण का कारण तो हरिण-जीवनप्रवाह का अंतिम क्षण भी है, लेकिन हरिण-जीवनप्रवाह के अन्तिम क्षण को तो किसी अर्थ में भी किसी का भी हिंसक नहीं कहा जा सकता । पारिभाषिक शब्दावली में, हरिण-जीवनप्रवाह का अन्तिम क्षण मनुष्य-जीवनप्रवाह के प्रथम क्षण का 'उपादान-कारण' है जबकि शिकारी उसका 'निमित्त कारण' है ।

तस्यापि हिंसकत्वेन न कश्चित् स्यादहिंसकः ।
जनकत्वाविशेषेण नैवं तद्विरतिः क्वचित् ॥६॥

यदि कहा जाए कि एक क्षण-विशेष का उपादान-कारण भूत क्षण भी हिंसक होता ही है तब तो संसार में अहिंसक कोई रह ही नहीं जाएगा, और वह इसलिए कि अपने तत्काल उत्तरवर्ती क्षण के उपादानकारण तो सभी क्षण हुआ करते हैं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय है कि क्योंकि प्रत्येक क्षण अपने तत्काल उत्तरवर्ती क्षण का उपादान कारण होता है इसलिए किसी क्षण का उपादान-कारण होने के नाते ही एक क्षण को हिंसक मान लेने का अर्थ होगा सभी क्षणों को हिंसक मानना—और यह एक बेतुकी बात है ।

उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः कृतो यत्नेन चिन्त्यताम् ।
विषयोऽस्य यमासाद्य हन्तैष सफलो भवेत् ॥७॥

लेकिन शास्त्र में अहिंसा का प्रतिपादन प्रयत्नपूर्वक किया पाया जाता है और प्रस्तुतवादी को सोचना चाहिए कि इस प्रतिपादन का विषय क्या है—जिस विषय के आधार पर यह प्रतिपादन सार्थक सिद्ध हो सके ।

(टिप्पणी) यहाँ 'शास्त्र' से आचार्य हरिभद्र का आशय उन बौद्ध धर्म-ग्रंथों से है जिनमें अहिंसा का प्रतिपादन पाया जाता है ।

अभावेऽस्या न युज्यन्ते सत्यादीन्यपि तत्त्वतः ।
अस्याः संरक्षणार्थं तु यदेतानि मुनिर्जगौ ॥८॥

अहिंसा के अभाव की अवस्था में सत्य आदि की बात भी वास्तविक अर्थ में युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि मनीषियों ने इन सत्य आदि का प्रतिपादन अहिंसा के ही संरक्षण की दृष्टि से किया है ।

(टिप्पणी) जैसा कि पहले कहा जा चुका है आचार्य हरिभद्र की समझ है कि अहिंसा, सत्य आदि पाँच चरित्र-सद्गुणों में अहिंसा एक मूल-सद्गुण है तथा सत्य आदि उसके चार सहायक-सद्गुण । प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र कह रहे हैं कि यह समझ उन्होंने 'मुनि' से प्राप्त की है—जहाँ 'मुनि' से आशय मनीषी-वर्ग से होना चाहिए ।



नित्यानित्यत्ववाद का समर्थन

नित्यानित्ये तथा देहाद् भिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः ।

घटन्त आत्मनि न्यायाद् हिंसादीन्यविरोधतः ॥१॥

आत्मा को नित्य एवं अनित्य दोनों तथा उसे शरीर से भिन्न एवं अभिन्न दोनों मानने पर हिंसा आदि तर्क-पूर्वक एवं अविरोध-पूर्वक संभव सिद्ध होते हैं ।

(टिप्पणी) यह एक जैन मान्यता है कि आत्मा नित्य एवं अनित्य दोनों तथा शरीर से भिन्न एवं अभिन्न दोनों है ।

पीडाकर्तृत्वयोगेन देहव्यापत्यपेक्षया ।

तथा हन्मीति संक्लेशाद् हिंसैषा सनिबंधना ॥२॥

(प्रस्तुतवादी के मतानुसार) क्योंकि (हिंसा होते समय) एक व्यक्ति में (अर्थात् मारने वाले में) पीडा-कर्तृता रहती है, एक दूसरे व्यक्ति के (अर्थात् मारे जाने वाले के) शरीर का नाश होता है, तथा एक व्यक्ति के (अर्थात् मारने वाले के) मन में 'मैं (इसे) मारूँ' इस प्रकार की पाप-भावना उत्पन्न होती है। इसलिए हिंसा एक सकारण घटना सिद्ध होती है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि दो व्यक्तियों के बीच हिंस्य-हिंसक भाव तभी संभव है जब वे दोनों नित्य तथा अनित्य दोनों हों, क्योंकि तभी हम कह सकेंगे कि इनमें से एक व्यक्ति के वही व्यक्ति बने रहते उसमें नई बात हुई 'हिंसा-भावना का उदय तथा हिंसा-कर्तृता' जबकि इनमें से दूसरे व्यक्ति के वही व्यक्ति बने रहते उसमें नई बात हुई 'हिंसा का शिकार होना' ।

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि निमित्तत्वनियोगतः ।

हिंसकस्य भवेदेषा दुष्टा दुष्टानुबंधतः ॥३॥

यद्यपि हिंसा होते समय मारे जाने वाले व्यक्ति के अशुभ 'कर्म' का उदय

हो रहा होता है लेकिन क्योंकि मारने वाला व्यक्ति इस हिंसा में निमित्त अवश्य बनता है वह दोष-दूषित हिंसा (अर्थात् मारने वाले व्यक्ति के लिए अशुभ 'कर्म'-बंध कराने वाली हिंसा) 'मारने वाले की हिंसा' कहलाती है—इस आधार पर कि मारने वाले व्यक्ति का मन इस अवसर पर दुर्भावना-ग्रस्त बना ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र इस शंका का समाधान कर रहे हैं कि जब एक हिंसित व्यक्ति के मारे जाने का कारण उस व्यक्ति के अपने पूर्वार्जित अशुभ 'कर्म' हैं तब इस मारे जाने में हिंसक का क्या दोष । संक्षेप में आचार्य हरिभद्र का समाधान यह है कि हिंसक हिंसित की हिंसा का निमित्त कारण है और जो हिंसा का निमित्त कारण है वह दोष का भागी अवश्य होगा । हिंसित की हिंसा को 'हिंसक की हिंसा' कहना थोड़ा अटपट प्रयोग अवश्य है लेकिन आचार्य हरिभद्र का आशय स्पष्ट है ।

ततः सदुपदेशादेः क्लिष्टकर्मवियोगतः ।

शुभभावानुबन्धेन हन्तास्या विरतिर्भवेत् ॥४॥

ऐसी दशा में शोभन उपदेश आदि के श्रवण के फलस्वरूप होने वाले अशुभ 'कर्मों' के नाश से एक व्यक्ति के मन में शुभ भावनाओं का उदय होना संभव है, और शुभ भावनाओं के इस उदय के फलस्वरूप यह व्यक्ति हिंसा से निवृत्त हो जाएगा ।

अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥५॥

यह वास्तविक अर्थ वाली अहिंसा है जो स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण सिद्ध होती है; और सत्य आदि का पालन इसी के संरक्षण के उद्देश्य से किया जाने पर न्यायोचित उहरता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत प्रकार की अहिंसा को आचार्य हरिभद्र 'मुख्या अहिंसा' अर्थात् मुख्य अर्थ वाली अहिंसा कह रहे हैं, क्योंकि वे दिखा चुके कि एक एकांगी नित्यत्ववादी अथवा एक एकांगी अनित्यत्ववादी जब अहिंसा की बात करता है—और वे दोनों अहिंसा की बात करते अवश्य हैं—तब वह अहिंसा गौणी अहिंसा अर्थात् गौण अर्थ वाली अहिंसा हुआ करती है ।

स्मरण प्रत्यभिज्ञान देहसंस्पर्शवेदनात् ।

अस्य नित्यादिसिद्धिश्च तथा लोकप्रसिद्धितः ॥६॥

जहाँ तक आत्मा की नित्यता आदि का (अर्थात् उसकी नित्यता, अनित्यता, शरीर से भिन्नता, शरीर से अभिन्नता आदि का) प्रश्न है वह स्मरण (= एक पूर्वानुभूत वस्तु को याद करना) के आधार पर सिद्ध होती है, प्रत्यभिज्ञा (= एक पूर्व-परिचित वस्तु को पहचानना) के आधार पर सिद्ध होती है, शरीर से होने वाले किसी वस्तु के संस्पर्श के अनुभव के आधार पर (अथवा शरीर से संस्पर्श के आधार पर होने वाले किसी वस्तु के अनुभव के आधार पर) सिद्ध होती है—और वह सिद्ध होती है लोक-प्रसिद्धि के आधार पर ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान की वास्तविकता के आधार पर आचार्य हरिभद्र यह सिद्ध कर रहे हैं कि एक आत्मा नित्य तथा अनित्य दोनों है जबकि शरीर में होने वाली घटनाओं की आत्मा को होने वाली अनुभूति की वास्तविकता के आधार पर वे यह सिद्ध कर रहे हैं कि एक आत्मा शरीर से भिन्न तथा अभिन्न दोनों है । आचार्य हरिभद्र के मतानुसार एक स्मरण का कर्ता तथा उस पूर्व-अनुभव का कर्ता जो इस स्मरण का आधार है परस्पर भिन्न भी होने चाहिए और परस्पर अभिन्न भी, इसी प्रकार, एक प्रत्यभिज्ञान का कर्ता एवं विषय तथा उस पूर्व-अनुभव का कर्ता एवं विषय जो इस प्रत्यभिज्ञान का आधार है क्रमशः परस्पर भिन्न भी होने चाहिए और परस्पर अभिन्न भी । इसका अर्थ यह हुआ कि स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान की कर्ता भूत आत्माएँ (तथा प्रत्यभिज्ञान की विषयभूत वस्तुएँ) नित्य तथा अनित्य दोनों हैं । दूसरी ओर, आचार्य हरिभद्र की समझ है कि एक शरीर में होने वाली घटनाओं की अनुभूति उस शरीर से संबंधित आत्मा को तभी हो सकती है जब यह आत्मा तथा यह शरीर परस्पर भिन्न भी हों और परस्पर अभिन्न भी । आचार्य हरिभद्र का विश्वास है इन प्रश्नों से संबंधित उनकी समझ का ठीक मेल लोक-सामान्य की समझ के साथ बैठ जाता है ।

देहमात्रे च सत्यस्मिन् स्यात् संकोचादिधर्मिणि ।

धर्मादेरूर्ध्वगत्यादि यथार्थं सर्वमेव तु ॥७॥

और क्योंकि यह आत्मा शरीर के बराबर आकार वाली है तथा सिकुड़ने—फैलने वाली है इसलिए धर्माचरण के फलस्वरूप उन्नत गति प्राप्त करना आदि सब कुछ इसके लिए वास्तविक अर्थ में संभव बनता है ।

(टिप्पणी) यह एक जैन मान्यता है कि आत्मा शरीर के बराबर आकार वाली तथा सिकुड़ने—फैलने वाली एक वस्तु है । आचार्य हरिभद्र की समझ

है कि अपने इन दो गुणों के कारण ही एक आत्मा के लिए विविध प्रकार के शुभ-अशुभ जन्म ग्रहण करना संभव हो पाता है ।

विचार्यमेतत् सदबुद्ध्या मध्यस्थेनान्तरात्मना ।

प्रतिपत्तव्यमेवेति न खल्वन्यः सतां नयः ॥८॥

इन सब बातों पर सदबुद्धि एवं तटस्थ अन्तरात्मा के साथ विचार किया जाना चाहिए तथा उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए । सत्पुरुषों की क्रिया प्रणाली दूसरी नहीं (अपितु यही है ।)



माँस-भक्षण के दोष-१

भक्षणीयं सता माँसं प्राण्यंगत्वेन हेतुना ।
ओदनादिवदित्येवं कश्चिदाहातितार्किकः ॥१॥

किसी 'अति-तार्किक' का कहना है : "एक बुद्धिमान् व्यक्ति को माँस खाना चाहिए, क्योंकि माँस एक प्राणी (के शरीर) का भाग है, उसी प्रकार जैसे चावल ।"

(टिप्पणी) अन्य सभी वनस्पतियों की भाँति धान का पौधा भी एक एक इन्द्रिय वाला—अर्थात् केवल स्पर्शेन्द्रिय वाला—प्राणी है यह एक जैन मान्यता है । और प्रस्तुतवादी का कहना है कि यदि चावल, जो एक एकेन्द्रिय प्राणी के शरीर का भाग है, खाया जा सकता है तो माँस भी, जो एक अनेकेन्द्रिय प्राणी के शरीर का भाग है, खाया जाना चाहिए ।

भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह शास्त्रलोकनिबंधना ।
सर्वैव भावतो यस्मात् तस्मादेतदसाम्प्रतम् ॥२॥

(इस पर हमारा उत्तर है :) क्योंकि वस्तुतः सभी भक्ष्य-अभक्ष्य व्यवस्था शास्त्र तथा लोक-व्यवहार के आधार पर निर्णीत होती है इसलिए प्रस्तुतवादी का उपरोक्त कहना उचित नहीं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का विश्वास है कि शास्त्र (विशेषतः जैन शास्त्र) ही नहीं बल्कि लोक-व्यवहार भी माँस को अ-भक्ष्य ठहराता है ।

तत्र प्राण्यंगमप्येकं भक्ष्यमन्यत्तु नो तथा ।
सिद्धं गवादिसत्क्षीररुधिरादौ तथेक्षणात् ॥३॥

यहाँ (अर्थात् शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में) किसी प्राणी (के शरीर) का भाग होते हुए भी एक वस्तु भक्ष्य मानी जाती है तथा दूसरी नहीं, क्योंकि गाय आदि के रुचिकर दूध तथा रक्त आदि के संबंध में हम यही वस्तुस्थिति पाते हैं (अर्थात् गाय के शरीर का भाग होते हुए भी दूध भक्ष्य है तथा रक्त

आदि अभक्ष्य) ।

प्राण्यंगत्वेन च नोऽभक्षणीयमिदं मतम् ।
किन्त्वन्यजीवभावेन तथा शास्त्रप्रसिद्धितः ॥४॥

फिर हम माँस को अ-भक्ष्य इस आधार पर नहीं मानते कि वह एक प्राणी (के शरीर) का भाग है बल्कि इस आधार पर कि माँस में अन्य जीव रहा करते हैं—और यह बात (अर्थात् माँस में अन्य जीवों के रहने की बात) शास्त्र द्वारा जानी जाती है ।

(टिप्पणी) यह एक जैन मान्यता है कि माँस में अत्यंत सूक्ष्म जीव (पारिभाषिक नाम 'निगोद') रहा करते हैं । इस संबंध में टीकाकार ने निम्नलिखित शास्त्रीय गाथा उद्धृत की है :

आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मांसपेसीसु ।
आयन्तियमुववाओ भणिओ निगोयजीवाणं ॥

[=आमासु च पक्कासु च विपच्यमानासु च मांसपेशीषु ।
आत्यन्तिकमुपपातो भणितो निगोदजीवानाम् ॥]

(अर्थात् कच्ची, पकाई हुई तथा पकाई जाती हुई मांसपेशियों में 'निगोद' जीव बड़ी संख्या में उत्पन्न हुआ करते हैं) ।

भिक्षुमांसनिषेधोऽपि न चैवं युज्यते क्वचित् ।
अस्थ्याद्यपि च भक्ष्यं स्यात् प्राण्यंगत्वाविशेषतः ॥५॥

फिर प्रस्तुतवादी का मत स्वीकार करने पर (अर्थात् यह मत कि एक प्राणी के शरीर का भाग सदा भक्ष्य है) भिक्षु—माँस खाने का निषेध भी कभी युक्तिसंगत न ठहरेगा, दूसरे, उस दशा में हड्डी आदि भी भक्ष्य ठहरेंगे और वह इसलिए कि वे भी एक प्राणी (के शरीर) का भाग हैं ही ।

एतावन्मात्रसाम्येन प्रवृत्तिर्यदि चेष्यते ।
जायायां स्वजनन्यां च स्त्रीत्वात्तुल्यैव साऽस्तु ते ॥६॥

यदि प्रस्तुतवादी (माँस तथा चावल के बीच) इतनी सी (अर्थात् थोड़ी सी) समानता देखने पर ही माँस-भक्षण में प्रवृत्त हो सकता है तब तो उसे अपनी पत्नी तथा अपनी माता दोनों के प्रति एक सा व्यवहार करना चाहिए और वह

इस आधार पर कि वे दोनों (समान रूप से) स्त्रियाँ हैं ।

तस्माच्छस्त्रं च लोकं च समाश्रित्य वदेद् बुधः ।
सर्वत्रैवं बुधत्वं स्यादन्यथोन्मत्ततुल्यता ॥७॥

अतः एक बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह सभी प्रश्नों पर शास्त्र तथा लोक व्यवहार के आधार पर बात करे; इसी में उसकी बुद्धिमत्ता है, वरना उसकी तुलना पागलों से होगी ।

शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु ।
लंकावतारसूत्रादौ ततोऽनेन न किञ्चन ॥८॥

फिर स्वयं प्रस्तुतवादी द्वारा आप्त (= प्रमाणिक) माने गए 'लंकावतारसूत्र' आदि शास्त्र में इसका (अर्थात् माँस-भक्षण का) निषेध प्रयत्नपूर्वक किया गया है, इसलिए इससे (अर्थात् माँसभक्षण से) उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

(टिप्पणी) इस संबंध में टीकाकार ने लंकावतारसूत्र का निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है :

'न प्राण्यंगसमुत्थं मोहादपि शंखचूर्णमश्नीयात्'

(अर्थात् एक प्राणी के शरीर के भाग भूत शंख के चूर्ण को भूल से भी नहीं खाना चाहिए) । इस कारिका से यह भी जाना जा सकता है कि प्रस्तुतवादी कोई बौद्ध होना चाहिए ।



माँस-भक्षण के दोष-२

अन्योऽविमृश्य शब्दार्थं न्याय्यं स्वयमुदीरितम् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमेवमाहात्र वस्तुनि ॥१॥

इसी संबंध में (अर्थात् माँस-भक्षण के ही संबंध में) एक अन्य वादी ने अपने ही द्वारा कहे गए एक न्यायोचित वाक्य के शब्दार्थ पर विचार किए बिना तथा (इसीलिए) पूर्वापर विरुद्ध निम्नलिखित बातें कह डाली हैं :

(टिप्पणी) अगली दो कारिकाओं में प्रस्तुतवादी का मत उपस्थित किया गया है । टीकाकार के कथनानुसार इस मत में पूर्वापरविरोध दो प्रकार से दिखाया जा सकता है—एक इस आधार पर कि पहली कारिका में कही गई बात दूसरी कारिका में कही गई बात के विरुद्ध ठहरती है, दूसरे इस आधार पर कि पहली कारिका के पूर्व-भाग में कही गई बात उस कारिका के उत्तर-भाग में कही गई बात के विरुद्ध ठहरती है ।

न माँसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥२॥

“माँस-भक्षण में कोई दोष नहीं, न मदिरा-पान में और न मैथुन में । ये क्रियाएँ तो प्राणियों के लिए स्वाभाविक हैं । हाँ, इन क्रियायों से विरत होना बड़ा फलदायी है ।

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥३॥

अगले जन्म में मुझे वह (माँसः) प्राणी खाएगा जिसका माँस इस समय मैं खा रहा हूँ—मनीषियों का कहना है कि माँस की मांसता इसी बात में है ।”

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में माँस का वर्णन किया गया है ‘माँसः’ इस शब्द को ‘मां’ तथा ‘सः’ इन दो भागों में बाँट कर और फिर इन दो शब्दों

का समावेश एक वाक्य-विशेष में करके । स्पष्ट ही यह एक शब्दालंकारमूलक वर्णन है, लेकिन उक्त वाक्य में कही गई बात माँस-भक्षण के विरुद्ध एक तर्क के रूप में वैसे भी उपस्थित की ही जा सकती है ।

**इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र न मांसाद् बाह्यभक्षणम् ।
प्रतीत्यैष निषेधश्च न्याय्यो वाक्यान्तराद्गतेः ॥४॥**

इस प्रकार उक्त रूप से जन्म ही (अर्थात् इस समय खाए गए प्राणी द्वारा खाए जाने के लिए जन्म ही) माँस-भक्षण का दोष है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह दोष तथा उसके कारण किया जाने वाला निषेध उस माँस-भक्षण पर लागू होता है जिसका विधान शास्त्र द्वारा न किया गया हो (अथवा 'और उस माँस-भक्षण को ध्यान में रखते हुए जिसका विधान शास्त्र में नहीं किया गया हो माँस-भक्षण में दोष से इनकार इस प्रकार से करना उचित नहीं (अर्थात् जिस सामान्य प्रकार से वह "न माँसभक्षणे दोषः" इस वाक्य में किया गया है), यह इसलिए कि इस बात की जानकारी (अर्थात् इस बात की कि शास्त्र किस स्थिति में माँस खाने का विधान करता है) हमें दूसरे शास्त्र-वाक्य से होती है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र का मुख्य भार इस बात पर है कि 'न माँसभक्षणे दोषः' इस प्रकार का दो-टूक विधान उस व्यक्ति को तो नहीं ही करना चाहिए जो माँस-भक्षण को सर्वथा अवैध ठहराता है लेकिन उस व्यक्ति को भी नहीं जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों में माँस को वैध (अथवा अवश्य-करणीय तक) ठहराता है; क्योंकि जिस शास्त्र-वाक्य में कहा जाएगा कि अमुक परिस्थितियों में माँस-भक्षण वैध (अथवा अवश्य-करणीय तक) है उसी के द्वारा यह भी सूचित हो जाना चाहिए कि इन परिस्थितियों के न रहने पर माँस खाने वाला व्यक्ति दोष का भागी है । इस प्रश्न पर कुछ अतिरिक्त प्रकाश आगामी कारिकाएँ डालेंगी ।

**प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव वाऽत्यये ॥५॥**

(यह रहा उक्त शास्त्र-वाक्य) "वैदिक मंत्रों से पवित्र किया गया माँस एक व्यक्ति को खाना चाहिए, (निमंत्रण देकर खिलाए गए) ब्राह्मणों की अनुमति से एक व्यक्ति को माँस खाना चाहिए, जिस स्थिति में जिसे जैसा माँस खाने का आदेश शास्त्र देता है उस स्थिति में उसे वैसा माँस खाना चाहिए, या फिर

जब प्राण-त्याग की नौबत आ बने तो एक व्यक्ति को माँस खा लेना चाहिए।”

अत्रैवासावदोषश्चेन्नवृत्तिर्नास्य सज्यते ।

अन्यदाऽभक्षणादत्राभक्षणे दोषकीर्तनात् ॥६॥

बचाव दिया जा सकता है कि ‘माँस-भक्षण में कोई दोष नहीं’ वाली बात प्रस्तुत माँस-भक्षण को ध्यान में रखकर कही गई है, लेकिन यह बचाव उचित नहीं क्योंकि प्रस्तुत माँस-भक्षण के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उससे विरत होना वाञ्छनीय है। यह इसलिए कि प्रस्तुत स्थल में जब शास्त्र यह कहता है कि इन गिनाई गई स्थितियों में माँस नहीं खाना चाहिए तब वह यह भी कहता है कि इन गिनाई गई स्थितियों में माँस न खाने में दोष है।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र प्रश्न के एक दूसरे पहलू की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे पहले कह चुके हैं कि जो व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही माँस-भक्षण वैध ठहराता है उसे ‘न माँसभक्षणे दोषः’ इस प्रकार का दो-टूक विधान नहीं करना चाहिए। अब वे कह रहे हैं कि जो व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों में माँसभक्षण अवश्य करणीय ठहराता है (अर्थात् जिस व्यक्ति की समझ यह है कि इन परिस्थितियों में माँस न खाने वाला व्यक्ति दोष का भागी है) वह इस माँस-भक्षण के संबंध में ‘निवृत्तिस्तु महाफला’ जैसी बात नहीं कह सकता।

यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति वै द्विजः ।

स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥७॥

(यह रहा एतत्संबंधी शास्त्र-वाक्य :) “जिस स्थिति में जैसा माँस खाने का आदेश एक ब्राह्मण को शास्त्र देता है उस स्थिति में वैसा माँस न खाने वाला ब्राह्मण मरने के बाद २१ जन्मों में पशु होता है।”

परिव्राज्यं निवृत्तिश्चेद्यस्तदप्रतिपत्तितः ।

फलाभावः स एवास्य दोषो निर्दोषतैव न ॥८॥

कहा जा सकता है कि माँस-भक्षण का निषेध उस व्यक्ति के लिए है जो परिव्राजक (= गृहत्यागी) हो गया है, लेकिन तब तो जो व्यक्ति परिव्राजक नहीं होगा उसे वे फल (अर्थात् मोक्ष आदि) न मिलेंगे जो एक परिव्राजक को मिलते हैं और ऐसी दशा में इन फलों का न मिलना ही

माँस-भक्षण का दोष ठहरेगा—जिसका अर्थ यह हुआ कि माँस-भक्षण एक निर्दोष काम नहीं ही है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र प्रश्न के एक तीसरे पहलू की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं । यदि प्रस्तुतवादी बचाव दे कि शास्त्र माँस-भक्षण का सर्वथा निषेध भी करता है लेकिन एक पारिव्राजक के लिए, तो उत्तर में आचार्य हरिभद्र एक बात तो यही कहेंगे कि तब भी उक्त शास्त्र को 'न माँसभक्षणे दोषः' जैसा दो-टूक विधान नहीं करना चाहिए । लेकिन अब वे एक नई बात भी कह रहे हैं और वह इसलिए कि प्रस्तुतवादी बचाव दे सकता है कि पारिव्राज्य ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के लिए तो माँस-भक्षण में कोई दोष सर्वथा ही नहीं; आचार्य हरिभद्र का उत्तर है कि पारिव्राज्य ग्रहण न करने वाले व्यक्ति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यही है कि वह पारिव्राज्यावस्था के लाभों से वंचित रह जाता है । वस्तुतः आचार्य हरिभद्र का उत्तर उसी वादी को चुप कर सकेगा जो पारिव्राज्यावस्था के लाभों को संसार का सर्वोच्च लाभ मानता है; लेकिन मोक्षवादी सभी विचारक यह मानते ही हैं कि मनुष्य का चरम पुरुषार्थ मोक्ष है और मोक्ष का अनिवार्य साधन पारिव्राज्य ।



मदिरा-पान के दोष

मद्यं पुनः प्रमादांगं तथा सच्चित्तनाशनम् ।

संधानदोषवत्तत्र न दोष इति साहसम् ॥११॥

जहाँ तक मदिरा का प्रश्न है वह प्रमाद उत्पन्न करने वाली है, शुभ मनोभावनाओं का नाश करने वाली है और वह उन दोषों वाली है जो जल-मिश्रित बहुत से पदार्थों में उत्पन्न हो जाया करते हैं (अर्थात् सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति रूप दोष वाली है); ऐसी मदिरा के संबंध में यह कहना कि उसे पीने में कोई दोष नहीं एक दुःसाहस वाली बात है (अथवा 'जहाँ तक मदिरा का प्रश्न है वह प्रमाद उत्पन्न करनेवाली है तथा शुभ मनोभावनाओं का नाश करने वाली है; ऐसी मदिरा के संबंध में यह कहना एक दुःसाहस वाली बात है कि उसे पीने में कोई दोष उसी प्रकार नहीं जैसे कि जल-मिश्रित बहुत से पदार्थों को पीने में) ।

(टिप्पणी) यहाँ 'संधानदोषवत्' इस शब्द के दो अर्थ ध्यान देने योग्य हैं; इनमें से एक अर्थ करने पर 'संधान' आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में दोष-युक्त ठहरता है लेकिन पूर्वपक्षी की दृष्टि में नहीं जबकि इनमें से दूसरा अर्थ करने पर 'संधान' आचार्य हरिभद्र तथा पूर्वपक्षी दोनों की दृष्टि में दोष-हीन ठहरता है—अर्थात् यहाँ पहला अर्थ होगा 'जल में पदार्थों का मिश्रण तथा उसमें सूक्ष्म जीवों का उत्पन्न होना' जबकि दूसरा अर्थ होगा जल में पदार्थों का मिश्रण' ।

किं वेह बहूनोक्तेन प्रत्यक्षेणैव दृश्यते ।

दोषोऽस्य वर्तमानेऽपि तथा भंडनलक्षणः ॥१२॥

अथवा बहुत कुछ कहने से क्या लाभ ? हम अपने सामने प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि मदिरा-पान से उस उस प्रकार के लड़ाई-झगड़े रूप दोष उत्पन्न होते हैं ।

श्रूयते च ऋषिर्मद्यात् प्राप्तज्योतिर्महातपाः ।

स्वर्गागनाभिराक्षिप्तो मूर्खवन्निधनं गतः ॥३॥

(पुराण-कथाओं में) सुना भी जाता है कि महा-तपस्वी तथा ज्ञान रूप

(अथवा ऋद्धिरूप) तेज को धारण करने वाले एक ऋषि ने देवांगनाओं के फुसलाने में आकर मदिरा पी और उसके फलस्वरूप एक मूर्ख की भाँति अपना सर्वनाश कर डाला ।

कश्चिदृषिस्तपस्तेपे भीत इन्द्रः सुरस्त्रियः ।
क्षोभाय प्रेषयामास तस्यागत्य च तास्तकम् ॥४॥

विनयेन समाराध्य वरदाभिमुखं स्थितम् ।
जगुर्मद्यं तथा हिंसां सेवस्वाब्रह्म वेच्छया ॥५॥

(ऋषि की कथा इस प्रकार है :) “किसी ऋषि ने तप किया और इस बात से डरकर इन्द्र ने उस ऋषि को विचलित करने के लिए देवांगनाओं को उसके पास भेजी । वे देवांगनाएँ उस ऋषि के पास आई तथा अपने विनय-पूर्ण व्यवहार से उन्होंने उसे प्रसन्न किया; और अब जब वह उन्हें वरदान देने को तैयार हुआ तब वे उससे बोलीं ‘आप अपनी इच्छा से मदिरा, हिंसा तथा मैथुन इन तीन में से किसी एक का सेवन कीजिए’ ।

स एवं गदितस्ताभिर्द्वयोर्नरकहेतुताम् ।
आलोच्य मद्यरूपं च शुद्धकारणपूर्वकम् ॥६॥

मद्यं प्रपद्य तद्भोगान्प्रधर्मस्थितिर्मदात् ।
विदंशार्थमजं हत्वा सर्वमेव चकार सः ॥७॥

देवांगनाओं द्वारा ऐसा कहे जाने पर उस ऋषि ने सोचा कि हिंसा तथा मैथुन ये दो तो नरक का कारण हैं लेकिन मदिरा शुद्ध पदार्थों से बनती है । अतः उसने मदिरा को ही स्वीकार किया और उसके नशे में वह धर्म-मर्यादा का विवेक खो बैठा—जिसके फलस्वरूप अपना नशा उत्तेजित करने के लिए उसने एक बकरे को (माँस पाने के लिए) मारा और सभी कुछ (पाप-कर्म) किया ।

ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः स मृत्वा दुर्गतिं गतः ।
इत्थं दोषाकरो मद्यं विज्ञेयं धर्मचारिभिः ॥८॥

और तब उसकी सब सामर्थ्य (अर्थात् तप द्वारा अर्जित सामर्थ्य) नष्ट हो गई और वह मरकर दुर्गति को प्राप्त हुआ ।” इस प्रकार धार्मिक व्यक्तियों को समझना चाहिए कि मदिरा दोषों की खान है ।



मैथुन के दोष

रगादेव नियोगेन मैथुनं जायते यतः ।

ततः कथं न दोषोऽत्र येन शास्त्रे निषिध्यते ॥१॥

क्योंकि मैथुन अवश्य ही राग का कारण होता है इसलिए उसमें कोई दोष कैसे नहीं ? और तब कोई शास्त्र कैसे मैथुन में दोष से इनकार कर सकता है (जैसे कि 'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने' इस शास्त्र-वाक्य में किया गया है) ? [अथवा 'क्योंकि मैथुन अवश्य ही राग का कारण होता है और क्योंकि शास्त्र में मैथुन का (अथवा राग का) निषेध किया गया है इसलिए मैथुन में कोई दोष कैसे नहीं ?'] ।

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः ।

ऋतुकाले विधानेन यत् स्याद्दोषो न तत्र चेत् ॥२॥

(बचाव में कहा जा सकता है) "एक अधिकारी (अर्थात् गृहस्थ) व्यक्ति जिसे धर्मार्जन के उद्देश्य से पुत्र की इच्छा है वह यदि अपनी पत्नी के साथ ऋतु-काल में विधिपूर्वक मैथुन करे तो उसमें कोई दोष नहीं ।"

नापवादिककल्पत्वान्नैकान्तेनेत्यसंगतम् ।

वेदं ह्यधीत्य स्नायाद्यदधीत्यैवेति शासितम् ॥३॥

स्नायादेवेति न तु यत्ततो हीनो गृहाश्रमः ।

तत्र चैतदतो न्यायात् प्रशंसाऽस्य न युज्यते ॥४॥

(इस पर हमारा उत्तर है :) प्रस्तुत शास्त्र-विधान तो एक आपवादिक विधान जैसा है (अर्थात् एक ऐसा विधान जो उन व्यक्तियों के लिए है जो किसी नियमविशेष को—उदाहरण के लिए, मैथुन-विरति विषयक नियम को—पूर्णतः पालन करने में असमर्थ हैं); और ऐसी दशा में यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि मैथुन में सर्वथा ही कोई दोष नहीं । यह इसलिए कि जब शास्त्र आदेश देता है कि 'वेद का अध्ययन करके स्नान (अर्थात् गृहस्थाश्रम-प्रवेश का

सूचक भूत स्नान) करना चाहिए' तब उसका आशय यह है कि 'वेद का अध्ययन करके ही स्नान करना चाहिए' । इस प्रकार क्योंकि यहाँ शास्त्र का आशय यह नहीं कि (वेद का अध्ययन करके) स्नान करना ही चाहिए इसलिए सिद्ध होता है कि (शास्त्र की दृष्टि में) गृहस्थाश्रम एक निन्दनीय वस्तु है । और क्योंकि मैथुन गृहस्थाश्रम में ही संभव है इसलिए मैथुन की प्रशंसा तर्क-युक्त नहीं ।

(टिप्पणी) यह ब्राह्मण-परंपरा की एक मान्यता है कि एक त्रैवर्णिक व्यक्ति को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे । आचार्य हरिभद्र इस मान्यता का अर्थ यह करते हैं कि यदि कोई त्रैवर्णिक व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे तो उसे अवश्य ही वेदाध्ययन का काम पहले समाप्त कर लेना चाहिए । इस प्रकार उनकी समझ के अनुसार यह मान्यता एक त्रैवर्णिक व्यक्ति का गृहस्थाश्रम में प्रवेश अवश्य-करणीय नहीं ठहरती—अर्थात् उसे निन्दित ठहरती है । स्वयं ब्राह्मण परंपरा में पल्लवित हुए संन्यासी सम्प्रदाय (उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय) प्रस्तुत मान्यता को तत्त्वतः उसी अर्थ में स्वीकार करेंगे जिस अर्थ में उसे यहाँ आचार्य हरिभद्र द्वारा स्वीकार किया जा रहा है; यह इसलिए कि इन सम्प्रदायों की दृष्टि में गृहस्थाश्रमप्रवेश एक अवश्यकरणीय काम उसी प्रकार नहीं जैसे कि वह आचार्य हरिभद्र की अपनी दृष्टि में नहीं । देखा जा सकता है कि जिस प्रकार माँस-भक्षण के प्रश्न पर आचार्य हरिभद्र का तर्क यह था कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही माँस-भक्षण को वैध ठहराने वाली परंपरा 'न माँसभक्षणे दोषः' जैसा दो तूक विधान नहीं कर सकती उसी प्रकार मैथुन के प्रश्न पर उनका तर्क यह है कि किन्हीं विशेष व्यक्तियों के लिए ही गृहस्थाश्रमप्रवेश वैध ठहराने वाली परंपरा 'न च मैथुने (दोषः) जैसा दो तूक विधान नहीं कर सकती ।

अदोषकीर्तनादेव प्रशंसा चेत् कथं भवेत् ।

अर्थापत्त्या सदोषस्य दोषाभावप्रकीर्तनात् ॥५॥

बचाव दिया जा सकता है कि शास्त्र में मैथुन का दोष-रहित कहा जाना ही मैथुन की प्रशंसा किया जाना है (अथवा शास्त्र मैथुन की प्रशंसा उसे दोष-रहित कहकर ही करता है) । लेकिन हम पूछते हैं कि यह कैसे (अर्थात् मैथुन की ऐसी प्रशंसा भी कैसे) और वह इसलिए कि प्रस्तुत शास्त्र-वाक्य में एक

ऐसी वस्तु की दोष-रहित कहा गया है जो 'अर्थापत्ति' प्रमाण की सहायता से दोषयुक्त सिद्ध हो चुकी ।

(टिप्पणी) जैसा कि हम देख चुके हैं, 'अधीत्य स्नायात्' इस मान्यता को आचार्य हरिभद्र जिस अर्थ में ग्रहण करते हैं उससे फलित होता है कि गृहस्थाश्रमप्रवेश एक अवश्य करणीय काम नहीं (अर्थात् वह एक निन्दित काम है) । इस प्रकार एक मान्यता का अर्थ-विश्लेषण करके उसके निहितार्थ का उद्घाटन करना भारतीय प्रमाण-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में कहलाता है 'अर्थापत्ति प्रमाण की सहायता से एक निहितार्थ का उद्घाटन करना' । अतएव आचार्य हरिभद्र का कहना है कि वे अर्थापत्ति प्रमाण की सहायता से गृहस्थाश्रम को सदोष सिद्ध कर चुके ।

तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वात् त्याज्यबुद्धेरसंभवात् ।

विध्युक्तेरिष्टसंसिद्धेरुक्तिरेषा न भद्रिका ॥६॥

वस्तुतः 'मैथुन में कोई दोष नहीं' यह कहना अच्छी बात नहीं—क्योंकि यह कथन लोगों के मैथुन में प्रवृत्त होने का कारण बनेगा, इसके कारण लोगों में यह समझ उत्पन्न नहीं होगी कि मैथुन एक त्याज्य वस्तु है, इसके कारण लोग समझेंगे कि शास्त्र मैथुन का आदेश देता है—जिस आदेश का पालन उनके अपने अभीष्ट की सिद्धि करेगा ।

(टिप्पणी) इस कारिका का अर्थ ऐसा भी किया जा सकता है कि यहाँ गिनाए गए तीन प्रमाण परस्परस्वतंत्र नहीं बल्कि इनमें से पहले प्रमाण का समर्थन दूसरा प्रमाण करता है तथा दूसरे का समर्थन तीसरा ।

प्राणिनां बाधकं चैतच्छस्त्रे गीतं महर्षिभिः ।

नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥७॥

फिर शास्त्र में महर्षियों ने कहा है कि मैथुन में प्राणियों की हिंसा होती है—यह बात कही गई है बाँस की नली में जलती हुई लौहशलाका के प्रवेश के उस दृष्टान्त द्वारा ।

(टिप्पणी) यह एक जैन मान्यता है कि मैथुन के अवसर पर अनन्तसंख्यक सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है । और प्रस्तुत दृष्टान्त का इंगित इस ओर है कि बाँस की नली में जलती हुई लौहशलाका डालने से बाँस का भीतरी भाग जल-भुन जाता है ।

मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम् ।
तस्माद् विषान्नवन्त्याज्यमिदं मृत्युमनिच्छता ॥८॥

दूसरे, मैथुन अधर्म की जड़ है तथा संसार-चक्र में भ्रमण की अवधि को बढ़ाने वाला है । अतः मृत्यु न चाहने वाले (अर्थात् मोक्ष चाहने वाले) व्यक्तियों को चाहिए कि वे मैथुन का त्याग उसी प्रकार करें जैसे विष-मिश्रित अन्न का ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र के दृष्टान्त का आशय यह है कि जिस प्रकार रुचिकर होते हुए भी विषमिश्रित अन्न इस अन्न को खाने वाले का मृत्यु का कारण बनता है उसी प्रकार रुचिकर होते हुए भी मैथुन मैथुन-सेवी व्यक्ति के पुनः पुनः जन्म का (अतः उसकी पुनः पुनः मृत्यु का) कारण बनता है ।



धर्म संबंधी विचार-विमर्श में सूक्ष्म-बुद्धि की आवश्यकता

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।
अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव तद्विघातः प्रसज्यते ॥१॥

धर्मोपार्जन की इच्छा वाले व्यक्तियों को चाहिए कि वे धर्म क्या है यह समझने के लिए सदा सूक्ष्म-बुद्धि का आश्रय लें। वरना, धर्म समझ कर किए जाने वाले कार्य के द्वारा ही धर्म-हानि हो बैठेगी।

गृहीत्वाग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहं यथा ।
तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य शोकं समुपगच्छतः ॥२॥

उदाहरण के लिए, ऐसी बात उस व्यक्ति के साथ हुई जिसने प्रतिज्ञा की थी कि वह (अमुक अवधि तक) रोगियों को औषधिदान करेगा लेकिन जब उसे औषधि-दान का अवसर न मिला और उसकी प्रतिज्ञा की अवधि समाप्त हो गई तब जिसने शोक में भरकर कहा।

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठे ग्लानो जातो न च क्वचित् ।
अहो मेऽधन्यता कष्टं न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥३॥

“मैंने एक श्रेष्ठ प्रतिज्ञा की थी लेकिन कहीं भी कोई रोग-ग्रस्त नहीं हुआ। हाय रे। मैं कैसा अभागा हूँ कि मेरे मन की इच्छा पूरी नहीं हुई।”

एवं ह्येतत्समादानं ग्लानभावाभिसंधिमत् ।
साधूनां तत्त्वतो यत्तद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥४॥

इस प्रकार से धर्माचरण संबंधी प्रतिज्ञा के किए जाने के पीछे वस्तुतः अभिप्राय यह रहा कि साधु लोग रोग-ग्रस्त हो और इसीलिए महात्माओं की दृष्टि में ऐसी प्रतिज्ञा दोष-दूषित है।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आए ‘साधूनां’ इस पद के प्रयोग से समझना चाहिए कि उक्त व्यक्ति की उक्त प्रतिज्ञा का लक्ष्य साधु-समुदाय था;

(अथवा यहाँ 'साधु' इस शब्द का अर्थ एक सामान्य सद्व्यक्ति भी किया जा सकता है) ।

**लौकिकैरपि चैषोऽर्थो दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।
प्रकारान्तरतः कैश्चिद् यत एवमुदाहृतम् ॥५॥**

सूक्ष्मदर्शी कुछ लौकिक ग्रंथकारों ने भी (अर्थात् कुछ उन ग्रंथकारों ने भी जो शास्त्रकार नहीं) इस बात को समझ लिया है, क्योंकि यही बात उनमें से किन्हीं ने प्रकारान्तर से कही है ।

**अंगेष्वेव जरां यातु यत् त्वयोपकृतं मम ।
नरः प्रत्युपकाराय विपत्सु लभते फलम् ॥६॥**

(उदाहरण के लिए, वाल्मीकि ने सुग्रीव के मुख से राम से कहलाया है) “आपने मेरा जो उपकार किया है मैं चाहता हूँ कि वह मेरे अंग-प्रत्यंग में ही पच जाए, क्योंकि एक मनुष्य को प्रत्युपकार का फल तो विपत्ति के समय मिला करता है (अर्थात् उस समय जब वह व्यक्ति जिस पर प्रत्युपकार किया जा रहा है विपत्ति में हो) ।”

(**टिप्पणी**) आचार्य हरिभद्र का (वस्तुतः वाल्मीकि का) इंगित इस बात की ओर है कि स्थूल-बुद्धि से देखने पर ही प्रत्युपकार की इच्छा एक सत्-इच्छा प्रतीत होती है जबकि सूक्ष्म-बुद्धि से देखने पर वह एक असत्-इच्छा सिद्ध होती है ।

**एवं विरुद्धदानादौ हीनोत्तमगतेः सदा ।
प्रव्रज्यादिविधाने च शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥७॥
द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो धर्मव्याघ्रात एव हि ।
सम्यग्माध्यस्थ्यमालम्ब्य श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥८॥**

इसी प्रकार, हीन (व्यक्ति अथवा वस्तु) को उत्तम समझकर दिए गए शास्त्र-विरुद्ध दान आदि तथा शास्त्रोक्त प्रणाली का उल्लंघन करके दिलाई जाने वाली प्रव्रज्या आदि के संबंध में भी समुचित तटस्थ भावना के साथ तथा शास्त्रोक्त धर्म को ध्यान में रखते हुए सदा यही समझना चाहिए कि ये सब क्रिया-कलाप धर्म-हानि रूप हैं, उस धर्म-हानि रूप जो द्रव्य आदि से संबंधित होने के आधार पर अनेक प्रकार की है (अर्थात् जिस धर्म-हानि का आधार

द्रव्य-संबंधी अनौचित्य हो सकता है, क्षेत्र-संबंधी (= स्थान-संबंधी) अनौचित्य हो सकता है, काल संबंधी अनौचित्य हो सकता है, भाव-संबंधी अनौचित्य हो सकता है) ।

(टिप्पणी) 'द्रव्य', 'क्षेत्र', 'काल' तथा 'भाव' इन चार शब्दों में से 'क्षेत्र' तथा 'काल' का अर्थस्पष्ट है । 'द्रव्य' तथा 'भाव' ये दो शब्द जैन-परंपरा में पारिभाषिक है, जहाँ 'द्रव्य' से आशय एक स्थायी पदार्थ से तथा 'भाव' से आशय इस पदार्थ की क्षण-क्षण बदलने वाली अवस्थाओं से है । प्रस्तुत प्रसंग में 'द्रव्य का अर्थ होना चाहिए दान-पात्र व्यक्ति अथवा दान में दी जाने वाली वस्तु जबकि भाव का अर्थ होना चाहिए इस व्यक्ति की अथवा इस वस्तु की कोई अवस्था विशेष ।



मनोभावनाओं की शुद्धि

भावशुद्धिरपि ज्ञेया यैषा मार्गानुसारिणी ।

प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यर्थं न पुनः स्वाग्रहात्मिका ॥१॥

मनोभावनाओं की (सच्ची) शुद्धि भी वही समझी जानी चाहिए जो मोक्ष-मार्ग का अनुसरण करती है तथा अत्यंत शास्त्रानुराग वाली है—न कि वह जिसका आधार एक व्यक्ति का अपना आग्रह मात्र है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र की समझ है कि अपनी मनोभावनाओं की शुद्धि करना उसी व्यक्ति के लिए संभव है जो न केवल मोक्ष पथ का पथिक है बल्कि जो उत्कट शास्त्र-भक्त भी है ।

रागो द्वेषश्च मोहश्च भावमालिन्यहेतवः ।

एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥२॥

मनोभावनाओं की मलिनता के कारण हैं राग, द्वेष तथा मोह, और समझना यह चाहिए कि वस्तुतः इन राग आदि की वृद्धि के फलस्वरूप ही मनोभावनाओं में मलिनता की वृद्धि होती है ।

तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन् शुद्धिवै शब्दमात्रकम् ।

स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितं नार्थवद् भवेत् ॥३॥

और मनोभावनाओं में मलिनता की वृद्धि के इस प्रकार रहते शुद्धि की बात केवल बात है, ऐसी बात जिसे एक व्यक्ति ने अपनी बुद्धि के कल्पना-कौशल के बल पर खड़ा कर लिया है लेकिन जिसमें अर्थ कुछ नहीं ।

न मोहोद्विक्तताऽभावे स्वाग्रहो जायते क्वचित् ।

गुणवत्पारतंत्र्यं हि तदनुत्कर्षसाधनम् ॥४॥

मोह की अत्यन्त वृद्धि हुए बिना एक व्यक्ति के मन में अपनी बात का आग्रह उत्पन्न नहीं होता, और मोह के हास का कारण है एक व्यक्ति का

अपने को गुणियों का वशवर्ती बनाना ।

(टिप्पणी) इस अष्टक की पहली कारिका में आचार्य हरिभद्र ने 'स्वाग्रह' को 'प्रज्ञापना-प्रियता (= शास्त्र - भक्ति)' का विरोधी बतलाया था, प्रस्तुत कारिका में वे स्वाग्रह को 'गुणवत्पारतंत्र्य' का विरोधी बतला रहे हैं । इससे समझा जा सकता है कि आचार्य हरिभद्र 'प्रज्ञापन-प्रियता' इस शब्द को कुछ ऐसा व्यापक अर्थ पहनाना चाहते हैं कि वह 'गुणवत्पारतंत्र्य' इस शब्द का पर्याय बन जाए ।

अत एवागमज्ञोऽपि दीक्षादानादिषु ध्रुवम् ।
क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह सर्वेषु कर्मसु ॥५॥

इसीलिए एक शास्त्रज्ञ व्यक्ति भी दीक्षा-दान आदि सभी धर्म-कार्यों के संबंध में यही कहता है कि यह कार्य सद्गुरु के हाथों होना चाहिए ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि एक सामान्य सद्व्यक्ति शास्त्र को जाने भर हो सकता है जबकि एक सद्गुरु शास्त्र के संबंध में निष्णात हुआ करता है; इसीलिए एक सद्-व्यक्ति स्वयं शास्त्रज्ञ होते हुए भी अपने सभी शुभ कार्यों का सम्पादन एक सद्गुरु की निर्देशकता में करता है ।

इदं तु यस्य नास्त्येव स नोपायेऽपि वर्तते ।
भावशुद्धेः स्वपरयोर्गुणाद्यज्ञस्य सा कुतः ॥६॥

जो व्यक्ति गुणियों का वशवर्ती नहीं वह मनोभावनाओं की शुद्धि के कारणों के ग्रहण की दिशा में भी नहीं बढ़ता (मनोभावनाओं की शुद्धि की दिशा में बढ़ने की तो बात दूर रही); सचमुच, जो व्यक्ति अपने तथा दूसरों के गुण आदि को नहीं जानता उसकी मनोभावनाएँ शुद्ध होंगी ही कहाँ ?

तस्मादासनभव्यस्य प्रकृत्या शुद्धचेतसः ।
स्थानमानान्तरज्ञस्य गुणवद्बहुमानिनः ॥७॥

औचित्येन प्रवृत्तस्य कुग्रहत्यागतो भृशम् ।
सर्वत्रागमनिष्ठस्य भावशुद्धिर्यथोदिता ॥८॥

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनोभावनाओं की वास्तविक शुद्धि उसी व्यक्ति में होती है जो मोक्ष का अधिकारी होते हुए मोक्ष का निकटवर्ती है, जो स्वभाव से ही शुद्ध चित्त वाला है, जो पद तथा पद के बीच मानपात्रता

तथा मानपात्रता के बीच अन्तर को जानता है, जो गुणियों का अत्यन्त सम्मान करता है, जो दुरग्रह का सर्वथा त्याग करके तथा औचित्यपूर्वक क्रियारत होता है, जो सभी प्रश्नों पर शास्त्रनिष्ठता का प्रदर्शन करता है ।

(टिप्पणी) जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैन-परंपरा 'भव्य' यह विशेषण उन आत्माओं को देती है जो स्वभावतः मोक्ष की अनधिकारी हैं । तथा 'अभव्य' यह विशेषण उन आत्माओं को जो स्वभावतः मोक्ष की अधिकारी हैं । "स्थानमानांतरज्ञ" इस शब्द का अर्थ करना चाहिए 'वह व्यक्ति जो आध्यात्मिक विकास की उच्चावच भूमिकाओं के बीच अन्तर को पहचानता है तथा जो यह जानता है कि इनमें से किस भूमिका वाले व्यक्ति को कितना सम्मान प्रदान किया जाना चाहिए ।



शास्त्र की प्रतिष्ठा गिरानेवाले आचरण की निन्दा

यः शासनस्य मालिन्येऽनाभोगेनापि प्रवर्तते ।
स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वादन्वेषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥१॥

बध्नात्यपि तदेवालं परं संसारकारणम् ।
विपाकदारुणं घोरं सर्वानर्थविवर्धनम् ॥२॥

जो व्यक्ति अनजाने में भी ऐसा आचरण करता है जिससे शास्त्र की प्रतिष्ठा गिरती है वह व्यक्ति अवश्य ही शास्त्रप्रतिष्ठा के इस गिराने के फलस्वरूप दूसरे प्राणियों में मिथ्यात्व (= असद्बुद्धि) को जन्म देकर (अथवा दूसरे प्राणियों में 'यह शास्त्र मिथ्या है' इस प्रकार की बुद्धि को जन्म देकर) अपनी आत्मा में भी (अर्थात् उक्त प्राणियों की आत्माओं में ही नहीं बल्कि अपनी आत्मा में भी) 'मिथ्यात्व-मोहनीय' नाम वाले 'कर्म' का बंध करता है—उस कर्म का जो संसार-चक्र में भ्रमण का सबसे बड़ा कारण है, जिसका फल दारुण होता है, जो स्वयं भयंकर है, तथा जो सब अनर्थों की वृद्धि करने वाला है ।

(टिप्पणी) जैन कर्म-शास्त्र में 'कर्मों' को आठ प्रकार का माना गया है जिनमें 'मोहनीय' नाम वाले 'कर्म' के संबंध में समझ है कि वह मोक्षमार्ग का सबसे बड़ा बाधक है; 'मोहनीय-कर्म' का भी सबसे अधिक घातक उप-प्रकार है 'मिथ्यात्व-मोहनीय' । यही कारण है कि मिथ्यात्व-मोहनीय 'कर्म' से एक आत्मा की मुक्ति इस बात की सूचक है कि वह अपने किसी न किसी निकट-आगामी जन्म में मोक्ष प्राप्त कर लेगी जबकि मोहनीय 'कर्म' से उसकी मुक्ति इस बात की सूचक है कि वह अपने इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त कर लेगी; (अर्थात् जो आत्मा मिथ्यात्व-मोहनीय 'कर्म' के चंगुल में है वह यदि 'अभव्य' है तब तो उसे मोक्ष मिलनी ही नहीं लेकिन यदि वह 'भव्य' है तो भी उसे अपने किसी दूर-आगामी जन्म में ही मोक्ष मिल सकेगी) । वस्तुतः मिथ्यात्व - मोहनीय 'कर्म' के संबंध में समझ यह है कि वह प्रकट होता है जैन-धर्म के

प्रति अश्रद्धा के रूप में । आचार्य हरिभद्र की प्रस्तुत पहली कारिका के एक अर्थ से तो यह बात तत्काल स्पष्ट हो जाती है लेकिन उसका दूसरा अर्थ भी तत्त्वतः इसी बात की ओर इंगित कर रहा है ।

यस्तूनतौ यथाशक्ति सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् ।
अन्येषां प्रतिपद्येह तदेवाप्नोत्यनुत्तरम् ॥३॥

दूसरी ओर, जो व्यक्ति शास्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ाने में अपनी शक्ति-भर क्रिया-रत होता है वह दूसरे प्राणियों में सम्यक्त्व (= सद्बुद्धि) को जन्म देने वाला सिद्ध होकर स्वयं भी उच्च कोटि के सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ।

(टिप्पणी) सम्यक्त्व मिथ्यात्व का ठीक उलट है—जिससे निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्यक्त्व इस शब्द का फलितार्थ होना चाहिए 'जैन-धर्म में श्रद्धा' । वस्तुतः जैन कर्म-शास्त्र की मान्यतानुसार 'सम्यक्त्व-मोहनीय' भी मोहनीय 'कर्म' का ही एक उप-प्रकार है और अपने समस्त मोहनीय 'कर्म' से मुक्ति पाते समय एक आत्मा सम्यक्त्व-मोहनीय 'कर्म' से भी मुक्त हो जाती है; यह एक ब्योरे की बात है और हमें यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिए कि प्रस्तुत मान्यता इस वस्तुस्थिति की ओर इंगित कर रही है कि आध्यात्मिक विकास की उच्चतर भूमिकाओं पर पहुँचे हुए व्यक्ति को 'शास्त्र-श्रद्धा' की आवश्यकता नहीं । स्वयं सम्यक्त्व की उच्चावच तीन भूमिकाएँ हैं और इसीलिए प्रस्तुत व्यक्ति के संबंध में कहा जा रहा है कि वह उच्च कोटि के सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ।

प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशं प्रशमादिगुणान्वितम् ।

निमित्तं सर्वसौख्यानां तथा सिद्धिसुखावहम् ॥४॥* १

इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय तीव्र संतापकारी 'कर्म' नष्ट हो चुके होते हैं तथा प्रशम आदि गुणों का उदय हो रहा होता है, यह सम्यक्त्व सब सुखों का निमित्त कारण है, यह सम्यक्त्व मोक्ष के सुख को दिलाने वाला है ।

(टिप्पणी) यहाँ 'तीव्रसंतापकारी कर्म' से आचार्य हरिभद्र का आशय एक विशेष रूप से घातक प्रकार के मोहनीय 'कर्म' से है; मोहनीय 'कर्म' के इस उप-प्रकार का पारिभाषिक नाम है 'अनन्तानुबंधी कषाय' और समझ यह

★ प्रस्तुत अष्टक की क्रमांक ४ से ८ तक की कारिकाओं के दो पाठ उपलब्ध होते हैं, यहाँ ये दो पाठ क्रमशः दिए जा रहे हैं ।

है कि एक आत्मा मिथ्यात्व-मोहनीय 'कर्म' से मुक्ति पाने के ठीक पहले अनन्तानुबंधी कषाय से भी मुक्ति पा चुकी होती है। इसी प्रकार यहाँ प्रशम आदि गुणों से आचार्य हरिभद्र का आशय निम्नलिखित पाँच चारित्रिक सदगुणों से है जिनके संबंध में समझ यह है कि वे सम्यक्त्व-प्राप्ति के सूचक चिह्न हैं : प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य ।

अतः सर्वप्रयत्नेन मालिन्यं शासनस्य तु ।

प्रेक्षावता न कर्तव्यं प्रधानं पापसाधनम् ॥५॥ १

अतः एक बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह पूरा प्रयत्न इस बात का करे कि (उसके कारण) शास्त्र की प्रतिष्ठा न गिरे, वह शास्त्र-प्रतिष्ठा जिसका गिरना पाप का (अर्थात् अशुभ 'कर्म' - बंधका) मुख्य कारण है ।

अस्माच्छसनमालिन्याज्जातौ जातौ विगर्हितम् ।

प्रधानभावादात्मानं सदा दूरीकरोत्यलम् ॥६॥ १

शास्त्र-प्रतिष्ठा के इस गिराने के फलस्वरूप एक व्यक्ति जन्म जन्म में निकृष्ट गति वाले अपने को प्रभुता-प्राप्ति से सदा अत्यन्त दूर फेंके रहता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र के कहने का आशय यह हुआ कि प्रस्तुत व्यक्ति बार बार निकृष्ट योनियों में जन्म पाता है तथा दीन-हीन जीवन व्यतीत करता है ।

कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां शक्ताविह नियोगतः ।

अवन्ध्यं बीजमेषां यत् तत्त्वतः सर्वसम्पदाम् ॥७॥ १

साथ ही एक व्यक्ति को चाहिए कि वह शक्ति रहते अवश्य ही शास्त्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाए, क्योंकि शास्त्र-प्रतिष्ठा का यह बढ़ाना सभी सम्पत्तियों (अर्थात् सौभाग्यों) का अवन्ध्य बीज सचमुच है ।

अत उन्नतिमाप्नोति जातौ जातौ हितोदयाम् ।

क्षयं नयति मालिन्यं नियमात् सर्ववस्तुषु ॥८॥ १

शास्त्र-प्रतिष्ठा के इस बढ़ाने के फलस्वरूप एक व्यक्ति जन्म जन्म में उन्नत अवस्था को प्राप्त करता है—उस उन्नत अवस्था को जिसका कारण है शुभ 'कर्मों' का सतत प्रवाह—तथा वह अवश्य ही सभी जीवन-पहलुओं से संबंधित निकृष्टता को नष्ट करता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र के कहने का आशय यह हुआ कि प्रस्तुत व्यक्ति बार बार उत्कृष्ट योनियों में जन्म पाता है तथा उसके सभी जीवन-पहलु उत्कृष्टताशाली होते हैं। 'हितोदयाम्' इस शब्द का अर्थ टीकाकार के अनुसरण पर किया गया है।

तत्तथा शोभनं दृष्ट्वा साधु शासनमित्यदः ।

प्रपद्यन्ते तदैवैके बीजमन्येऽस्य शोभनम् ॥४॥* २

शास्त्र-प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले उसके इस शोभन क्रिया-कलाप को देखकर और (फलतः) 'यह शास्त्र श्रेष्ठ है' इस प्रकार की संमझ बनाकर कुछ व्यक्ति तत्काल सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं तथा कुछ लोग सम्यक्त्व के शोभन (अर्थात् अवंध्य) बीज की।

(टिप्पणी) 'सम्यक्त्व की प्राप्ति' तथा 'सम्यक्त्व के अवंध्य बीज की प्राप्ति' के बीच संबंध वही है जो हम सामान्य जीवन में 'फल की प्राप्ति' तथा फल के अवंध्य बीज की प्राप्ति के बीच पाते हैं।

सामान्येनापि नियमाद् वर्णवादोऽत्र शासने ।

कालान्तरेण सम्यक्त्वहेतुतां प्रतिपद्यते ॥५॥ २

सामान्य रूप से भी इस शास्त्र की प्रशंसा किया जाना (अर्थात् इस रूप से कि यह शास्त्र भी शोभन है—न कि इस रूप से कि यह शास्त्र ही शोभन है) कालान्तर में सम्यक्त्व-प्राप्ति का कारण बनता है।

(टिप्पणी) यह वर्णन हुआ उस व्यक्ति का जो शास्त्र-प्रशंसा के फलस्वरूप सम्यक्त्व के अवंध्य बीज की प्राप्ति करता है।

चौरोदाहरणादेवं प्रतिपत्तव्यमित्यदः ।

कौशाम्ब्यां स वणिग् भूत्वा बुद्ध एकोऽपरो न तु ॥६॥ २

यह बात उन दो चोरों के उदाहरण से समझनी चाहिए जिनमें से एकने कौशाम्बी में वणिक् रूप से जन्म पाकर बोधि (= सदबुद्धि) प्राप्त की तथा दूसरे ने नहीं।

(टिप्पणी) कथा कहती है कि एक अवसर पर इन दो चोरों में से एक ने एक तपस्वी की तपस्या की प्रशंसा की थी तथा दूसरे ने उस तपस्वी

★ क्रमांक ४ से ८ तक की कारिकाओं का दूसरा पाठ यहाँ प्रारंभ होता है।

की तपस्या की निन्दा की थी ।

इति सर्वप्रयत्नेनोपघातः शासनस्य तु ।

प्रेक्षावता न कर्तव्य आत्मनो हितमिच्छता ॥७॥ २

अतः अपना हित चाहने वाले एक बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह पूरा प्रयत्न इस बात का करे कि उसके कारण शास्त्र की प्रतिष्ठा न गिरे ।

कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां शक्ताविह नियोगतः ।

प्रधानं कारणं ह्येषा तीर्थकृन्नामकर्मणः ॥८॥ २

साथ ही, एक व्यक्ति को चाहिए कि वह शक्ति रहते अवश्य ही शास्त्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाए—क्योंकि शास्त्र-प्रतिष्ठा का यह बढ़ाना ही तीर्थकर नाम वाले 'नाम-कर्म' का कारण है (अर्थात् एक व्यक्ति द्वारा इस 'कर्म' के अर्जन किए जाने का कारण है—जिसके फलस्वरूप यह व्यक्ति आगे चलकर तीर्थकर होता है) ।

(टिप्पणी) जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'तीर्थकर' एक प्रकार के शुभ 'कर्म' का नाम है—जिसका अर्जन करने के फलस्वरूप एक व्यक्ति अपने अगले किसी जन्म में तीर्थकर बनता है । 'नाम-कर्म' 'कर्म' के आठ मुख्य प्रकारों में से एक है तथा 'तीर्थकर' नाम वाला 'कर्म' एक प्रकार का 'नाम-कर्म' है; (वैसे 'तीर्थकृन्नामकर्मणः' इस शब्द का अर्थ 'तीर्थकर नाम वाले नाम-कर्म का' यह भी किया जा सकता है और 'तीर्थकर नाम वाले कर्म का' यह भी) ।



‘पुण्य को जन्म देने वाला पुण्य’ आदि

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादधिकं नरः ।

याति यद्वत् सुधर्मेण तद्वदेव भवाद् भवम् ॥१॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य एक शोभन घर से शोभनतर घर में जाता है उसी प्रकार वह शुभ धर्म के पालन से (अर्थात् पुण्य को जन्म देने वाले पुण्य के फलस्वरूप) एक शोभन जन्म से शोभनतर जन्म में जाता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत चार कारिकाओं में आचार्य हरिभद्र ने चार प्रकार के जन्म-परिवर्तनों की तुलना चार प्रकार के गृह-परिवर्तनों से की है—और इन चार प्रकार के गृह-परिवर्तनों का कारण उन्होंने बतलाया है चार प्रकार के कर्मार्जनों को । इन चार प्रकार के कर्मार्जनों के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण टीकाकार के अनुसरण पर किया जा रहा है । संक्षेप में आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि (i) कुछ शुभ ‘कर्म’ शुभ ‘कर्म’ के अर्जन का कारण बनते हैं, (ii) कुछ शुभ ‘कर्म’ अशुभ ‘कर्म’ के अर्जन का, (iii) कुछ अशुभ ‘कर्म’ अशुभ ‘कर्म’ के अर्जन का, और (iv) कुछ अशुभ ‘कर्म’ शुभ कर्म के अर्जन का ।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादितरन्नरः ।

याति यद्वदसद्भर्मात् तद्वदेव भवाद् भवम् ॥२॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य एक शोभन घर से अशोभन घर में जाता है उसी प्रकार वह अशुभ धर्म के पालन से (अर्थात् पाप को जन्म देने वाले पुण्य के फलस्वरूप) एक शोभन जन्म से अशोभन जन्म में जाता है ।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिदशुभादधिकं नरः ।

याति यद्वन्महापापात् तद्वदेव भवाद् भवम् ॥३॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य एक अशोभन घर से अशोभनतर घर में जाता है उसी प्रकार वह महापाप करने से (अर्थात् पाप को जन्म देने वाले पाप के

फलस्वरूप) एक अशोभन जन्म से अशोभनतर जन्म में जाता है ।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिदशुभादितरन्नरः ।

याति यद्वत् सुधर्मेण तद्ववदेव भवाद् भवम् ॥४॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य एक अशोभन घर से शोभन घर में जाता है उसी प्रकार वह शुभ धर्म के पालन से (अर्थात् पुण्य को जन्म देने वाले पाप के फलस्वरूप) एक अशोभन जन्म से शोभन जन्म में जाता है ।

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्तव्यं सर्वथा नरैः ।

यत्प्रभावादपातिन्यो जायन्ते सर्वसम्पदः ॥५॥

इस लिए मनुष्यों को चाहिए कि वे पुण्य कार्य को जन्म देने वाला पुण्य कार्य करें—जिस पुण्य कार्य के प्रताप से एक मनुष्य को प्राप्त होने वाली सभी सौभाग्य-सम्पत्तियाँ अविनाशी बन जाया करती है ।

सदागमविशुद्धेन क्रियते तच्च चेतसा ।

एतच्च ज्ञानवृद्धेभ्यो जायते नान्यतः क्वचित् ॥६॥

और इस प्रकार का पुण्य कार्य संभव होता है उस मन के लिए जो शोभन शास्त्र द्वारा (अथवा सदा शास्त्र द्वारा) विशुद्ध बनाया गया है जबकि एक मन का शोभन शास्त्र द्वारा (अथवा सदा शास्त्र द्वारा) विशुद्ध बनाया जाना ज्ञानवृद्ध (अर्थात् अपने से अधिक ज्ञान वाले) व्यक्तियों के हाथों ही संभव है अन्यथा कैसे भी नहीं ।

चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते ।

यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥७॥* १

क्लेश-मुक्त (अर्थात् राग आदि दोषों से मुक्त) चित्त रूपी रत्न को ही एक व्यक्ति का आन्तरिक धन कहा गया है और जिस व्यक्ति के इस चित्तरत्न को (राग आदि) दोषों ने चोरी कर लिया उसे विपत्तियाँ ही शेष रह गई ।

प्रकृत्या मार्गगामित्वं सदपि व्यज्यते ध्रुवम् ।

ज्ञानवृद्धप्रसादेन वृद्धिं चाप्नोत्यनुत्तराम् ॥७॥ २

★ प्रस्तुत अष्टक की सातवीं कारिका के दो पाठ उपलब्ध होते हैं जो यहाँ क्रमशः दिए जा रहे हैं ।

यद्यपि मोक्ष-मार्ग की स्वभावतः अनुसरणशीलता एक मन में प्रारंभ से ही रहती है लेकिन ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों के प्रताप से वह अभिव्यक्त होती है तथा उत्कृष्ट वृद्धि प्राप्त करती है ।

दया भूतेषु वैराग्यं विधिवद् गुरुपूजनम् ।

विशुद्धा शीलवृत्तिश्च पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥८॥

प्राणियों के प्रति दया, वैराग्य, गुरुजनों का विधिवत् पूजन, विशुद्ध सदाचरण (अर्थात् निरपवाद रूप से अहिंसा, सत्य आदि का पालन)—ये हैं वे पुण्य कार्य जो पुण्य कार्य को जन्म देते हैं ।



पुण्य को जन्म देने वाले पुण्य का प्रधान फल

अतः प्रकर्षसम्प्राप्ताद् विज्ञेयं फलमुत्तमम् ।

तीर्थकृत्त्वं सदैचित्य-प्रवृत्त्या मोक्षसाधकम् ॥१॥

पुण्य को जन्म देने वाले उत्कृष्ट कोटि के पुण्य का प्रधान फल है 'तीर्थकरता', वह 'तीर्थकरता' जिसके कारण एक व्यक्ति सदैव औचित्यपूर्वक व्यवहार करता है तथा (कालान्तर में) मोक्ष प्राप्त करता है ।

(टिप्पणी) एक तीर्थकर के स्वरूप के संबंध में चर्चा पहले हो चुकी है ।

सदैचित्यप्रवृत्तिश्च गर्भादारभ्य तस्य यत् ।

तत्राप्यभिग्रहो न्याय्यः श्रूयते हि जगद्गुरोः ॥२॥

पित्रुद्वेगनिरासाय महतां स्थितिसिद्धये ।

इष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमेवंभूतो जिनागमे ॥३॥

और (तीर्थकर बनने वाला) यह व्यक्ति सदैव औचित्यपूर्वक व्यवहार करता है अपने गर्भवास काल से ही, क्योंकि जैन शास्त्रों में सुना जाता है कि जगद्गुरु (तीर्थकर महावीर) ने अपने माता-पिता के उद्वेग को शान्त करने के लिए, महापुरुषों की कर्तव्यमर्यादा स्थापित करने के लिए, अपने अभीष्ट कार्य की (अर्थात् प्रव्रज्या की) सफल सिद्धि के लिए माता के गर्भ में ही निम्नलिखित न्यायोचित प्रतिज्ञा की थी :

(टिप्पणी) तीर्थकर महावीर का प्रस्तुत प्रकार का व्यवहार इस बात

का एक दृष्टान्त मात्र है कि सभी तीर्थकर अपने गर्भवास-काल से ही उदात्त मनोभावों का प्रदर्शन करने लग जाते हैं ।

जीवतो गृहवासेऽस्मिन् यावन्मे पितराविमौ ।

तावदेवाधिवत्स्यामि गृहानहमपीष्टतः ॥४॥

“अपनी इस गृहस्थावस्था में मेरे माता-पिता जब तक जीवित हैं तभी

तक मैं घर पर रहूँगा और अपनी इच्छा से ।

(टिप्पणी) 'अपनी इस गृहस्थावस्था' का अर्थ है 'अपने इस जन्म की गृहस्थावस्था' ।

इमौ शुश्रूषमाणस्य गृहानावसतो गुरु ।

प्रव्रज्याऽप्यानुपूर्व्येण न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति ॥५॥

अपने इन गुरुजनों की शुश्रूषा करते हुए घर पर रहने वाले मेरी प्रव्रज्या भी यथानियम न्यायोचित अन्त में ही सिद्ध होगी (अर्थात् गुरुजनोंकी शुश्रूषा के पश्चात् ही सिद्ध होगी) [अथवा 'अपने इन गुरुजनों की शुश्रूषा करते हुए घर पर रहने वाले मेरी अन्त में ली जाने वाली प्रव्रज्या भी यथानियम न्यायोचित सिद्ध होगी'] ।

सर्वपापनिवृत्तिर्यत् सर्वथैषा सतां मता ।

गुरुद्वेगकृतोऽत्यन्तं नेयं न्याय्योपपद्यते ॥६॥

क्योंकि इस प्रव्रज्या के संबंध में बुद्धिमानों ने कहा है कि वह सब पापों का नाश करने वाली है इसलिए एक ऐसे व्यक्ति की प्रव्रज्या न्यायोचित नहीं हो सकती जो अपने माता-पिता के उद्वेग का कारण बने ।

प्रारंभमंगलं ह्यस्या गुरुशुश्रूषणं परम् ।

एतौ धर्मप्रवृत्तानां नृणां पूजास्पदं महत् ॥७॥

इस प्रव्रज्या के संबंध में किया जाने वाला सर्व प्रथम मंगलकार्य है माता-पिता की शुश्रूषा; सचमुच ये माता-पिता एक धर्माचरणशील व्यक्ति के निकट महान् पूजापात्र हैं ।

स कृतज्ञः पुमान् लोके स धर्मगुरुपूजकः ।

स शुद्धधर्मभाक् चैव य एतौ प्रतिपद्यते ॥८॥

जो व्यक्ति इन माता-पिता की सेवा करता है वही संसार में कृतज्ञ है, वही धर्म-गुरु का (सच्चा) पूजक है, और वही शुद्ध धर्म का भागी है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि माता-पिता की उपेक्षा करके धर्म-गुरु की पूजा करने वाला व्यक्ति धर्म-गुरु का सच्चा पूजक नहीं ।



तीर्थकर का दान सचमुच महान् है

जगद्गुरोर्महादानं संख्यावच्चेत्यसंगतम् ।

शतानि त्रीणि कोटीनां सूत्रमित्यादि चोदितम् ॥१॥

(किसी की शंका है) “जगद्गुरु (तीर्थकर) के दान को ‘महान् दान’ कहना तथा उसके संबंध में यह कहना कि वह अमुक संख्या वाला है परस्पर - विरोधी बातें हैं । और ‘उन्होंने तीन सौ करोड़ दान दिए’ आदि वचन शास्त्र में आए ही हैं ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत वादी की शंका का आशय यह है कि एक असंख्य दान ही ‘महान् दान’ कहलाए जाने का अधिकारी है जबकि जैन ग्रंथों में उन उन तीर्थकरो के संबंध में कहा गया है कि उन्होंने उस उस संख्या वाला दान दिया ।

अन्यैस्त्वसंख्यमन्येषां स्वतंत्रेषूपवर्ण्यते ।

तत्तदेवेह तद्युक्तं महच्छब्दोपपत्तितः ॥२॥

किन्ही दूसरे लोगों ने किन्हीं दूसरे महापुरुषों के संबंध में अपने शास्त्र-ग्रंथों में कहा है कि उनका दान असंख्य है । अतः दान-चर्चा के प्रसंग में इन्हीं महापुरुषों के दान को ‘महान् दान’ कहना उचित होगा, क्योंकि इसी दान के संबंध में ‘महान्’ शब्द का अर्थ ठीक बैठता है ।

ततो महानुभावत्वात्तेषामेवेह युक्तिमत् ।

जगद्गुरुत्वमखिलं सर्वं हि महतां महत् ॥३॥

ऐसी दशा में इन्हीं महापुरुषों की जगद्गुरुता पूर्णता-प्राप्त युक्तिसंगत रीति से ठहरती है और वह इसलिए कि ये ही महापुरुष महान् शक्ति वाले सिद्ध हुए, सचमुच, महापुरुषों की सभी बातें महान् हुआ करती है ।

(टिप्पणी) यहाँ ‘अखिल’ इस शब्द का अर्थ ‘दोष-रहित’ अर्थात्

‘पूर्णता-प्राप्त’ यह किया जा रहा है ।

एवमाहेह सूत्रार्थं तत्त्वतोऽनवधारयन् ।
कश्चिन्मोहात्ततस्तस्य न्यायलेशोऽत्र दृश्यते ॥४॥

प्रस्तुतवादी ने ये बातें हमारे शास्त्र-वचन के अर्थ को तर्क-पूर्वक समझे बिना तथा मोहवश कह डाली हैं । अतः हम संक्षेप में यही दिखाने चलते हैं कि प्रस्तुत प्रसंग में हमारा तर्क क्या है ।

महादानं हि संख्यावदर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः ।
सिद्धं वरवरिकातस्तस्याः सूत्रे विधानतः ॥५॥

जगद्गुरु (तीर्थंकर) का महान् दान संख्या वाला इसलिए है कि उनके सामने माँगने वाले ही नहीं रहे यह बात उनकी ‘वर माँगो’ ‘वर माँगो’ इस उक्ति से सिद्ध होती है और इस उक्ति का उल्लेख शास्त्र में हुआ है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि जगद्गुरु का दान एक सीमित संख्या वाला इसलिए है कि उनके सामने एक सीमित संख्या वाले व्यक्ति ही दान लेने के लिए आए । जैसा कि हम आगे देखेंगे आचार्य हरिभद्र की यह भी समझ है कि यह जगद्गुरु की महिमा है कि उनकी उपस्थिति में एक सीमित संख्या वाले व्यक्तियों को ही दान लेने की आवश्यकता पड़ी ।

तया सह कथं संख्या युज्यते व्यभिचारतः ।
तस्माद्यथोदितार्थं तु संख्याग्रहणमिष्यताम् ॥६॥

‘वर माँगो’ ‘वर माँगो’ इस उक्ति के साथ दान की संख्या का मेल कहाँ (बशर्ते कि माँगने वाले उपस्थित हों) ?—क्योंकि ये दोनों परस्परविरोधी बातें हैं । अतः प्रस्तुत दान के प्रसंग में संख्या की बात उक्त अर्थ में ही ली जानी चाहिए (अर्थात् इस अर्थ में कि जगद्गुरु के सामने माँगने वाले इतनी ही संख्या में आए) ।

महानुभावताऽप्येषा तद्भावे न यदर्थिनः ।
विशिष्टसुखयुक्तत्वात् सन्ति प्रायेण देहिनः ॥७॥

दूसरे, यह भी जगद्गुरु का महान् शक्ति वाला होना ही हुआ कि उनकी उपस्थिति में प्राणियों को माँगने की आवश्यकता प्रायः नहीं पड़ती है और वह इसलिए कि उस समय ये प्राणी सुखी हुआ करते हैं ।

धर्मोद्यताश्च तद्योगात् ते तदा तत्त्वदर्शिनः ।
महन्महत्त्वमस्यैवमयमेव जगद्गुरुः ॥८॥

फिर इन जगद्गुरु के संबंध से ये प्राणी उस समय धर्माचरणशील तथा तत्त्वदर्शी हुआ करते हैं यह इन जगद्गुरु का महान् बड़प्पन हुआ (अथवा यह इन जगद्गुरु का बड़ों से भी बड़ा होना हुआ), और इसका अर्थ यह हुआ कि ये जगद्गुरु ही सच्चे जगद्गुरु हैं ।



तीर्थकर का दान निष्फल नहीं

कश्चिदाहास्य दानेन क इवार्थः प्रसिध्यति ।

मोक्षगामी ध्रुवं ह्येष यतस्तेनैव जन्मना ॥१॥

किसी का पूछना है कि दान देने से जगद्गुरु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, क्योंकि वे तो अवश्यमेव इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करने जा रहे हैं ?

(टिप्पणी) जैसा कि पहले कहा जा चुका है एक तीर्थकर अपने इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करते हैं—यद्यपि उनकी यह विशेषता दूसरे व्यक्तियों में भी (जो तीर्थकर नहीं) पाई जा सकती है ।

उच्यते कल्प एवास्य तीर्थकृन्नामकर्मणः ।

उदयात् सर्वसत्त्वानां हित एव प्रवर्तते ॥२॥

इस पर हमारा उत्तर है कि 'तीर्थकर' नाम वाले 'नाम-कर्म' का यह स्वभाव ही है कि उसका उदय होने पर एक व्यक्ति सब प्राणियों का भला करने में ही लग जाता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि दान आदि परोपकारी काम एक तीर्थकर किसी फल की इच्छा से नहीं करते बल्कि अपने स्वभाववश करते हैं ।

धर्मागख्यापनार्थं च दानस्यापि महामतिः ।

अवस्थौचित्ययोगेन सर्वस्यैवानुकम्पया ॥३॥

और इन महामति. (= जगद्गुरु) ने महान् दान यह सिद्ध करने के लिए दिया कि अपनी परिस्थिति के अनुसार तथा अनुकम्पापूर्वक दान देना भी एक ऐसा धर्म-कृत्य है (अथवा धर्म का कारणभूत कृत्य है) जिसका संपादन सभी को करना चाहिए ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका का अर्थ करते समय टीकाकार के अनुसरण पर 'महादानं दत्तवान्' (= महान् दान दिया) इस वाक्य-भाग को अपनी ओर

से जोड़ा गया है ।

शुभाशयकरं ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च ।

सदभ्युदयसारांगमनुकम्पाप्रसूति च ॥४॥

दान शुभ मनोभावनाओं को जन्म देने वाला है, धन पर चिपके रहने की भावना को नष्ट करने वाला है, शोभन अभ्युदय का प्रधान कारण है, तथा अनुकम्पा से उत्पन्न होने वाला है ।

ज्ञापकं चात्र भगवान् निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने ।

देवदूष्यं ददद् धीमाननुकम्पाविशेषतः ॥५॥

इस संबंध में दृष्टान्त भगवान् (महावीर) ही हैं महाप्रज्ञा वाले जिन्होंने प्रव्रज्यावस्था में भी अत्यंत अनुकम्पावश एक ब्राह्मण को देव-वस्त्र का दान दिया ।

(टिप्पणी) कथा कहती है कि एक अवसर पर भगवान् महावीर ने अपने वस्त्र का अर्ध-भाग उस वस्त्र का जिसे उन्होंने देव-राज से पाया था— एक याचक ब्राह्मण को दान में दे डाला था ।

इत्थमाशयभेदेन नातोऽधिकरणं मतम् ।

अपि त्वन्यद् गुणस्थानं गुणान्तरनिबंधनम् ॥६॥

इस प्रकार उक्त स्वरूप वाला दान शुभ मनोभावनाओं से संयुक्त होने के कारण एक व्यक्ति को निकृष्ट स्थिति में पहुँचाने वाला नहीं सिद्ध होता अपि तु वह उसे एक ऐसे उच्चतर गुणस्थान में पहुँचाने वाला सिद्ध होता है जो उसे और भी उच्च गुणस्थान की ओर ले जाता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आए 'अधिकरण' तथा 'गुणस्थान' इन दो शब्दों के अर्थ पर थोड़ा ध्यान देना चाहिए । यहाँ 'अधिकरण' इस शब्द का अर्थ है निकृष्ट अर्थात् पापमय जीवन-स्थिति । दूसरी ओर, 'गुणस्थान' यह शब्द जैनपरंपरा में पारिभाषिक है और इसका अर्थ है आध्यात्मिक विकास की वे १४ उच्चावच भूमिकाएँ जिनमें होकर क्रमशः गुजरती हुई एक आत्मा अन्त में मोक्ष प्राप्त करती है । प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र कह रहे हैं कि शुभमनोभावनापूर्वक दिया गया दान इस दान देने वाले व्यक्ति को एक 'अधिकरण' की प्राप्ति कराने वाला नहीं सिद्ध होता बल्कि वह सिद्ध होता है उसे एक ऐसे

गुणस्थान की प्राप्ति कराने वाला जो उसे और भी ऊँचे गुणस्थान की ओर ले जाता है ।

ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रं तु यत् स्मृतम् ।
अवस्थाभेदविषयं द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥७॥

और जो 'ये तु दानं प्रशंसन्ति' आदि शास्त्र-वचन हैं (जहाँ दान-प्रशंसा को अनुचित बतलाया गया है) उनके संबंध में महात्माओं को समझना है कि वे (दाता तथा दान-पात्र की) किन्हीं विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कहे गए हैं ।

(टिप्पणी) यहाँ आचार्य हरिभद्र का इंगित किन्हीं ऐसे शास्त्र-वचनों की ओर है जिनमें दान-प्रशंसा को अनुचित बतलाया गया है; उत्तर में उनका इतना ही कहना है कि ऐसे अवसर अवश्य संभव हैं जिनमें दान देना अनुचित है लेकिन सभी अवसरों पर दान देना अनुचित हो यह बात नहीं । इस संबंध में टीकाकार ने वह पूरा शास्त्रवाक्य उद्धृत किया है जो आचार्य हरिभद्र के मन में है वह है :

जे उ दाणं पसंसन्ति वहमिच्छन्ति पाणिणं ।
जे उ णं पडिसेहन्ति वित्तिच्छेयं करन्ति ते ॥

[= ये तु दानं प्रशंसन्ति वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् ।
ये पुनः प्रतिषेधन्ति वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥]

(अर्थात् जो लोग दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं तथा जो लोग दान का निषेध करते हैं वे दूसरों की जीविका का हनन करते हैं) ।

एवं न कश्चिदस्यार्थस्तत्त्वतोऽस्मात् प्रसिध्यति ।
अपूर्वं किन्तु तत्पूर्वमेवं कर्म प्रहीयते ॥८॥

इस प्रकार महान् दान से जगद्गुरु का कोई नया प्रयोजन वस्तुतः नहीं सिद्ध होता लेकिन इस प्रकार के दान से उनका वह पूर्वार्जित 'कर्म' अवश्य नष्ट होता है [अथवा उनका वह 'कर्म' इस प्रकार दान-पूर्वक ही नष्ट होता है] (जिसके कारण उन्हें तीर्थकर बनने का अवसर मिला) ।

(टिप्पणी) जैन कर्म-शास्त्र की मान्यतानुसार एक व्यक्ति के एक पूर्वार्जित 'कर्म' का नाश उसके उस 'कर्म' का फल भोग लेने पर हो जाता है (यद्यपि यहाँ कुछ ऐसी परिस्थितियों की कल्पना भी की गई है जिनमें एक 'कर्म' का नाश अन्यथा भी संभव है) । यही बात 'तीर्थकर' नाम वाले 'कर्म' पर भी लागू होती है और इसीलिए आचार्य हरिभद्र यहाँ कह रहे हैं कि 'तीर्थकर' नाम वाले 'कर्म' का नाश अमुक प्रकार के व्यवहार के फलस्वरूप ही होता है (अर्थात् परोपकार-रत जीवन-यापन के फलस्वरूप ही होता है) ।



राज्य आदि का दान करने पर भी तीर्थंकर दोष के भागी नहीं

अन्यस्त्वाहास्य राज्यादिप्रदाने दोष एव तु ।
महाधिकरणत्वेन तत्त्वमार्गेऽविचक्षणः ॥१॥

तत्त्व-मार्ग को न जानने वाले किसी दूसरे वादी का कहना है कि राज्य आदि का दान करने पर एक तीर्थंकर को दोष का भागी होना ही चाहिए और वह इसलिए कि ये राज्य आदि महान् पाप-कार्यों का कारण सिद्ध होते हैं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र की समझ है कि राज्य-पालन आदि सांसारिक कार्यों को करने में बड़े बड़े पाप अवश्य ही होते हैं; इसीलिए प्रस्तुत वादी की उनके सामने शंका है कि तब फिर तीर्थंकरों ने अपने उत्तराधिकारियों को राज्य सौंपना आदि कार्य क्यों किए ।

अप्रदाने हि राज्यस्य नायकाभावतो जनाः ।
मिथो वै कालदोषेण मर्यादाभेदकारिणः ॥२॥

विनश्यन्त्यधिकं यस्मादिह लोके परत्र च ।
शक्तौ सत्यामुपेक्षा च युज्यते न महात्मनः ॥३॥

तस्मात् तदुपकाराय तत्प्रदानं गुणावहम् ।
परार्थदीक्षितस्यास्य विशेषेण जगद्गुरोः ॥४॥

(इस पर हमारा उत्तर है) यदि राज्य किसी को सौंपा न जाए तो वर्तमान काल ऐसा दोष-दूषित है कि एक नेता के अभाव में जनसाधारण स्थापित मर्यादाओं का उल्लंघन करके एक-दूसरे के लोकपरलोक का भरपूर नाश कर डालते हैं; अतः महात्माओं को चाहिए कि वे शक्ति रहते इस संबंध में उपेक्षा न करें (अर्थात् वे अवश्य ही राज्य किसी न किसी को सौंपे) । यही कारण है कि जन-साधारण के उपकार की दृष्टि से जगद्गुरु द्वारा किया गया

राज्य-दान—उन जगद्गुरु द्वारा जिन्होंने परहित करने की प्रतिज्ञा ली है—विशेष रूप से गुणकारी सिद्ध होता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि राज्य-पालन करने में कुछ पाप अवश्य होते हैं लेकिन राज्यपालन के फलस्वरूप कुछ दूसरे और भी अधिक भयंकर अनर्थों से बचाव हो जाता है । अगली एक कारिका में यह बात विशेष रूप से स्पष्ट की जाएगी ।

एवं विवाहधर्मादौ तथा शिल्पनिरूपणे ।

न दोषो ह्युत्तमं पुण्यमित्थमेव विपच्यते ॥५॥

इसी प्रकार जगद्गुरु द्वारा किए गए विवाह आदि धर्मों के निरूपण में तथा उनके द्वारा किए गए उन उन शिल्पकलाओं के निरूपण में भी कोई दोष नहीं; यह इसलिए कि एतत्संबंधी शुभ 'कर्म' (अर्थात् 'तीर्थकर' नाम वाला 'कर्म') इसी प्रकार से फलदायी बना करता है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में भी इंगित कुछ ऐसे कार्यों की ओर है जिनको करने में कुछ न कुछ पाप अवश्य होता है लेकिन जिनका निरूपण तीर्थकरों ने किया है । आचार्य हरिभद्र की समझ है कि ये सब कार्य संसारोपयोगी हैं और परोपकार-रत तीर्थकरों का यह स्वभाव ही है कि वे इन कार्यों का निरूपण करें । अगली कारिका में यह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो जाएगी ।

किंचेहाधिकदोषेभ्यः सत्त्वानां रक्षणं तु यत् ।

उपकारस्तदेवैषां प्रवृत्त्यंगं तथाऽस्य च ॥६॥

दूसरे, उक्त (राज्य-दान आदि) कार्यों द्वारा प्राणियों की उन दोषों से रक्षा होती है जो इन कार्यों से होने वाले दोषों की अपेक्षा भी अधिक भयंकर हैं; इन दोषों से रक्षा ही जगद्गुरु का इन प्राणियों पर उपकार है और इस उपकार के उद्देश्य से ही वे (अर्थात् जगद्गुरु) उन उन कार्यों को हाथ में लेते हैं ।

नागादे रक्षणं यद्वद् गर्त्ताद्याकर्षणेन तु ।

कुर्वन्न दोषवाँस्तद्वदन्यथाऽसंभवादयम् ॥७॥

जिस प्रकार एक मनुष्य को गड्डे आदि के निकट से खींच कर उसे साँप आदि से बचाने वाला व्यक्ति दोष का भागी नहीं उसी प्रकार जगद्गुरु

भी प्रस्तुत प्रसंग में दोष के भागी नहीं । यदि वे ऐसा न करें (अर्थात् यदि वे राज्य-दान आदि कार्य न करें) तो वह बात असंभव हो जाएगी (अर्थात् तब अतिभयंकर दोषों से जन-साधारण की रक्षा असंभव हो जाएगी) ।

इत्थं चैतदिहैष्टव्यमन्यथा देशनाऽप्यलम् ।

कुधर्मादिनिमित्तत्वाद् दोषायैव प्रसज्यते ॥८॥

यहाँ यह सब कार्य (अर्थात् जगद्गुरु द्वारा किया गया राज्यदान आदि कार्य) उपरोक्त रूप से ही समझा जाना चाहिए । वरना तो जगद्गुरु द्वारा किया गया धर्मोपदेश भी अत्यधिक दोषों का ही कारण सिद्ध होगा और वह इसलिए कि यह धर्मोपदेश कु-धर्म आदि के उपदेश का निमित्त हुआ करता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि एक तीर्थंकर द्वारा जैनेतर धार्मिक मान्यताओं का निरूपण कतिपय आंशिक सत्यों के रूप में ही किया जाता है, लेकिन ये मान्यताएँ यदि अंशतः सत्य हैं तो वे अंशतः असत्य भी हुईं । अतः कहना हुआ कि एक तीर्थंकर द्वारा कतिपय अंशतः असत्य मान्यताओं का निरूपण किया जाता है । लेकिन कतिपय अंशतः असत्य मान्यताओं का निरूपण इस प्रकार से करना एक तीर्थंकर के लिए अनिवार्य है और वह इसलिए कि एक पूर्णतः सत्य मान्यता का निरूपण कतिपय अंशतः असत्य मान्यताओं के निरूपण द्वारा ही संभव है । इसी प्रकार बड़े अनर्थों से जन-साधारण की रक्षा किन्हीं ऐसे कार्यों द्वारा ही संभव है जो स्वयं थोड़े बहुत अनर्थों का कारण है ।



सामायिक का स्वरूप

सामायिकं च मोक्षांगं परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचन्दनकल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥१॥

और सामायिक अर्थात् राग-द्वेष से वर्जित (अतः समता-मूलक) आचरण को, जिसका स्वरूप-निरूपण सर्वज्ञ व्यक्तियों ने किया है, महात्माओं की मोक्ष का प्रधान कारण बतलाया गया है, उन महात्माओं की जो 'वासीचन्दनन्याय' का पालन करने वाले हैं (अर्थात् जो कुल्हाड़ी तथा चंदन दोनों को समान भाव से ग्रहण करते हैं अथवा जो उस चंदन की भाँति हैं जो कुल्हाड़ी खाने पर भी सुगंध फैलाता है) ।

(टिप्पणी) 'सामायिक जिसका स्वरूप-निरूपण सर्वज्ञ व्यक्तियों ने किया है' इस वाक्यांश का फलितार्थ हुआ 'वह आदर्श आचरण-मार्ग जिसका स्वरूप-निरूपण जैन शास्त्रीय ग्रंथों में हुआ है' । 'सामायिक' यह शब्द जैन परंपरा में पारिभाषिक है और उसका मोटा अर्थ सदाचरण होना चाहिए ।

निरवद्यमिदं ज्ञेयमेकान्तेनैव तत्त्वतः ।

कुशलाशयरूपत्वात् सर्वयोगविशुद्धितः ॥२॥

इस सामायिक को सर्वथा निर्दोष तत्त्वतः समझना चाहिए और वह इसलिए कि वह शुभ मनोभावना रूप है तथा उससे सम्पन्न व्यक्ति के सभी (अर्थात् मानसिक, वाचिक, शारीरिक) क्रिया-कलाप विशेष शुद्ध हुआ करते हैं ।

यत् पुनः कुशलं चित्तं लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।

तत्तथौदार्ययोगेऽपि चिन्त्यमानं न तादृशम् ॥३॥

और जिसे लोक-सामान्य की दृष्टि में शुभ मनोभावना माना जाता है वह उन उन उदारताओं से सम्पन्न भले ही हो लेकिन विचार करने पर सिद्ध होता है कि वह सामायिक के जोड़ की नहीं ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका से थोड़ा और स्पष्ट हो जाता है कि

‘सामायिक’से आचार्य हरिभद्र का आशय उसी सदाचरण-मार्ग से है जिसका निरूपण जैन शास्त्रीय ग्रंथों में हुआ है । और यह बात अत्यंत स्पष्ट हो जानी चाहिए आगामी कारिकाओं में जहाँ आचार्य हरिभद्र उस आदर्श आचरण-मार्ग की आलोचना करते हैं जिसकी कल्पना बौद्धपरंपरा में की गई है ।

मय्येव निपतत्वेतज्जगदुश्चरितं यथा ।

मत्सुचरितयोगाच्च मुक्तिः स्यात् सर्वदेहिनाम् ॥४॥

उदाहरण के लिए (यह है बौद्धों द्वारा किया गया एक शुभ मनोभावना का वर्णन), “जगत् के जितने भी पापाचरण हैं वे मुझ पर आ पड़ें (अर्थात् उनका फल मुझे मिले) तथा मेरे पुण्याचरणों के फलस्वरूप सब प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति हो ।”

असंभवीदं यद् वस्तु बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः ।

संभवित्वे त्वियं न स्यात्तत्रैकस्याप्यनिर्वृतौ ॥५॥

उक्त स्वरूप वाली शुभ मनोभावना के विरुद्ध हमारी आपत्ति का आधार यह है कि यह सब एक असंभव बात है और वह इसलिए कि हम सुनते हैं कि उन उन बुद्धों को निर्वाण की प्राप्ति हुई । सचमुच, यदि उक्त बात संभव है तो जब तक जगत् में एक भी प्राणी निर्वाण से वंचित है तब तक किसी बुद्ध को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि एक बौद्ध की प्रस्तुत अभिलाषोक्ति एक अतिशयोक्ति मात्र है । यहाँ ‘बुद्ध’ इस शब्द का अर्थ समझना चाहिए ‘मोक्ष-दायक सिद्ध होने वाले ज्ञान से संपन्न व्यक्ति’ । वस्तुतः एक सर्वमोक्षवादी बौद्ध—अर्थात् महायानी बौद्ध—कहेगा कि जब तक एक भी व्यक्ति निर्वाण से वंचित है तब तक किसी भी व्यक्ति को निर्वाण सचमुच प्राप्त नहीं होगा ।

तदेवं चिन्तनं न्यायात् तत्त्वतो मोहसंगतम् ।

साध्ववस्थांतरे ज्ञेयं बोध्यादेः प्रार्थनादिवत् ॥६॥

अतः तर्कपूर्वक देखने पर उक्त प्रकार का विचार वस्तुतः मोह-युक्त सिद्ध होता है । हाँ, किसी अवस्थाविशेष में उसे शोभन भी माना जा सकता है उसी प्रकार जैसे बोधि (= सदबुद्धि) आदि की प्रार्थना को (जो वस्तुतः एक मोह-युक्त क्रिया होते हुए भी किसी अवस्थाविशेष में शोभन भी मानी जा सकती

है) ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि एक व्यक्ति को सद्बुद्धि की प्राप्ति अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप होती है न कि किसी देवता आदि से सद्बुद्धि की याचना के फलस्वरूप; लेकिन क्योंकि इस प्रकार की याचना सूचित करती है कि उक्त व्यक्ति उक्त देवता आदि के प्रति भक्ति-शील है वह एक सीमित अर्थ में एक प्रशंसनीय कार्य भी है ।

अपकारिणि सद्बुद्धिर्विशिष्टार्थप्रसाधनात् ।
आत्मंभरित्वपिशुना तदपायानपेक्षिणी ॥७॥

और अपने पर अपकार करने वाले एक प्राणी के संबंध में किसी व्यक्ति द्वारा बनाई गई यह समझ कि वह एक भला प्राणी है उस व्यक्ति के एक विशिष्ट प्रयोजन की (अर्थात् उसकी मोक्ष-प्राप्ति की) साधक होने के कारण उसकी स्वार्थमयता की सूचक है; वह इसलिए कि यह समझ उस अपकारी प्राणी की आगामी दुर्गति की उपेक्षा करके चलती है ।

(टिप्पणी) प्रस्तुत कारिका में आचार्य हरिभद्र की आलोचना का लक्ष्य वे विचारक हैं जिनकी दृष्टि में यह एक आदर्श कोटि का आचरण है कि अपने पर अपकार करने वाले प्राणी को एक भला प्राणी समझा जाए । आचार्य हरिभद्र का कहना है कि इस प्रकार की समझ इस समझ वाले व्यक्ति का तो हित-साधन करेगी लेकिन वह उस व्यक्ति को इस बात की प्रेरणा न देगी कि वह अपना अपकार करने वाले प्राणी के सचमुच भला प्राणी बनने में सहायक सिद्ध हो ।

एवं सामायिकादन्यदवस्थान्तरभद्रकम् ।
स्याच्चित्तं तत्तु संशुद्धेर्ज्ञेयमेकान्तभद्रकम् ॥८॥

इस प्रकार सामायिक से अन्य प्रकार की कोई मनोभावना किसी अवस्थाविशेष में ही शुभ मानी जा सकती है जबकि पूर्णतः शुद्ध होने के कारण सामायिक को एक सर्वथा शुभ क्रिया समझनी चाहिए ।



केवल (सर्वविषयक) ज्ञान

सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः ।

क्षयात् केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम् ॥१॥

जिस व्यक्ति की आत्मा सामायिक द्वारा विशुद्ध की जा चुकी है वह अपने घाती 'कर्मों' के अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय इन चार प्रकार के 'कर्मों' के सर्वथा नाश के फलस्वरूप उस केवल (अर्थात् सर्व विषयक) ज्ञान की प्राप्ति करता है जो लोक तथा अ-लोक दोनों का स्वरूप प्रकट करने वाला है ।

(टिप्पणी) जैन कर्म-शास्त्र द्वारा स्वीकृत 'कर्म' के आठ प्रकारों में से चार को घाती तथा चार को 'अघाती' कहा गया है । एक व्यक्ति के चार घाती 'कर्मों' का नाश इस बात का सूचक है कि वह अपने इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त कर लेगा (जबकि उसके चार अघाती 'कर्मों' का नाश सूचक है उसके शरीर-त्याग का—अर्थात् उसकी मोक्ष-प्राप्ति का) । यह भी एक जैन कर्म-शास्त्रीय मान्यता है कि अपने सब घाती 'कर्मों' का नाश होते ही एक व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है । विश्व को 'लोक' तथा 'अ-लोक' इन दो भागों में बाँटना— जिन्हें क्रमशः विश्व का 'भरा भाग' तथा 'खाली भाग' कहा जा सकता है— जैन परंपरा की एक अपनी विशेषता है । यह परंपरा विश्व को निम्नलिखित ६ भागों में बाँटती है—

जीव (= आत्म), पुद्गल (= भूत), धर्म (= गति को संभव बनाने वाला तत्त्व), अधर्म (= स्थिति को संभव बनाने वाला तत्त्व), काल, आकाश । 'लोक' में उक्त छह द्रव्य पाए जाते हैं जबकि 'अ-लोक' में पाया जाता है आकाश का एक भाग मात्र (जिसका नाम है 'अलोकाकाश') । सर्वविषयक ज्ञान को 'केवल ज्ञान' (अथवा 'केवल' कहना भी जैन-परंपरा की ही विशेषता है ।

ज्ञाने तपसि चारित्रे सत्येवास्योपजायते ।

विशुद्धिस्तदतस्तस्य तथा प्राप्तिरिहेष्यते ॥२॥

और क्योंकि इसकी (अर्थात् एक आत्मा की) विशुद्धि (अर्थात् घाती 'कर्मों' से मुक्ति) ज्ञान, तप तथा सदाचरण के रहते ही होती है इसलिए तत्त्ववेत्ताओं की मान्यता है कि इसकी (अर्थात् आत्म-विशुद्धि की) प्राप्ति होने पर उसकी (अर्थात् 'केवल' ज्ञान की) प्राप्ति इस रीति से (अर्थात् घाती 'कर्मों' के नाश के फलस्वरूप) हुआ करती है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि क्योंकि एक आत्मा की विशुद्धि का कारण ज्ञान (तप तथा सदाचरण) की उत्तरोत्तर वृद्धि है इसलिए एक सर्वथा विशुद्ध आत्मा को सर्वज्ञ होना ही चाहिए ।

स्वरूपमात्मनो ह्येतत् किन्त्वनादिमलावृतम् ।

जात्यरत्नांशुवत्तस्य क्षयात् स्यात्तदुपायतः ॥३॥

वस्तुतः 'केवल' ज्ञान आत्मा की एक स्वाभाविक अवस्था है लेकिन अनादिकालीन ('कर्म' रूपी) मैल ने उसे ढाक रखा है—उसी प्रकार जैसे एक श्रेष्ठ रत्न की किरणों को मैल अनादि काल से ढाके होता है; और समुचित उपायों की सहायता से इस मैल का नाश हो जाने के फलस्वरूप एक आत्मा में उसे (अर्थात् 'केवल' ज्ञान को) प्रकट हो जाना चाहिए ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र की समझ यह है कि एक आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ होती है लेकिन क्योंकि 'ज्ञानावरणीय' नाम वाला 'कर्म' उसे अनादि काल से ढाके हुए होता है इसलिए उसकी यह सर्वज्ञता तब तक प्रकट नहीं होती जबतक इस 'कर्म' विशेष का सर्वथा नाश न हो ले ।

आत्मनस्तत्स्वभावत्वाल्लोकालोकप्रकाशकम् ।

अतएव तदुत्पत्तिसमयेऽपि यथोदितम् ॥४॥

क्योंकि लोक तथा अ-लोक दोनों का स्वरूप प्रकट करना आत्मा का स्वभाव है इसलिए 'केवल' ज्ञान भी वैसा ही (अर्थात् लोक तथा अ-लोक दोनों का स्वरूप प्रकट करने वाला) हुआ करता है; और इसलिए यह 'केवल' ज्ञान अपनी उत्पत्ति के समय भी उक्त स्वभाव वाला (अर्थात् लोक तथा अ-लोक दोनों का स्वरूप प्रकट करने वाला) होता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि यदि लोक तथा अ-लोक का स्वरूप प्रकट करना 'केवल' ज्ञान का स्वभाव है तब वह अपनी उत्पत्ति के समय भी लोक तथा अ-लोक का स्वरूप प्रकट करने वाला होना चाहिए ।

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात् संवित्त्वा चैवमिष्यते ।
गमनादेरयोगेन नान्यथा तत्त्वमस्य तु ॥५॥

‘केवल’ ज्ञान का आश्रयस्थान आत्मा है क्योंकि वह आत्मा का एक धर्म है, क्योंकि हमे वैसी अनुभूति होती है, क्योंकि ‘केवल’ ज्ञान का (ज्ञेय-प्रदेश में) जाना आदि संभव नहीं । यदि ऐसा न हो (अर्थात् यदि ‘केवल’ ज्ञान का आश्रय-स्थान आत्मा न हो अपितु उसे—अर्थात् ‘केवल’ ज्ञान को ज्ञेय-प्रदेश में जाना आदि पड़े) तो वह (अर्थात् ‘केवल’ ज्ञान) वैसा (अर्थात् लोक तथा अ-लोक दोनों का स्वरूप प्रकट करने वाला) नहीं हो सकता ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि जिस प्रकार एक भौतिक द्रव्य एक दूसरे भौतिक द्रव्य का स्पर्श कर सकता है उस प्रकार एक ज्ञान अपने ज्ञेय विषय का स्पर्श नहीं किया करता । आगामी कारिकाएँ उनके इस आशय को और भी अधिक स्पष्ट करेंगी ।

यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र ज्ञातं तज्ज्ञातमात्रकम् ।
प्रभा पुद्गलरूपा यत्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥६॥

और जो इस संबंध में चंद्रमा की चाँदनी आदि का दृष्टान्त दिया जाता है वह एक दृष्टान्त मात्र है; क्योंकि चाँदनी एक पुद्गल (अर्थात् एक भौतिक द्रव्य) है और इसीलिए वह चंद्रमा का धर्म नहीं हो सकती (अथवा ‘और इसलिए उस दशा में—अर्थात् ‘केवल’ ज्ञान तथा चंद्रमा की चाँदनी को सर्वथा सदृश मानने पर—‘केवल’ ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं हो सकता’) ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि चंद्रमा की चाँदनी तथा ज्ञान के बीच सबसे बड़ी असमानता यह है कि चाँदनी स्वयं एक द्रव्य है जबकि ज्ञान एक द्रव्य विशेष का (अर्थात् आत्मा का) एक धर्म विशेष है ।

अतः सर्वगताभासमप्येतन्न यदन्यथा ।
युज्यते तेन सत्र्यायात् संवित्त्वाऽदोऽपि भाव्यताम् ॥७॥

क्योंकि अन्यथा (अर्थात् यदि चन्द्रमा की चाँदनी की सभी विशेषताएँ ‘केवल’ ज्ञान में वर्तमान मानी जाएँगी तो) ‘केवल’ ज्ञान का सर्ववस्तुविषयक होना भी चंद्रमा की चाँदनी के दृष्टान्त की सहायता से सिद्ध नहीं होगा । इसलिए समुचित तर्क के आधार पर तथा स्वानुभूति के आधार पर यह बात भी ठीक प्रकार से समझ ली जानी चाहिए (अर्थात् यह बात कि इस संबंध में चंद्रमा

की चाँदनी का दृष्टान्त एक दृष्टान्त मात्र है) ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि क्योंकि चंद्रमा की चाँदनी विश्व के सभी पदार्थों का स्पर्श नहीं करती उसकी सभी विशेषताएँ सर्वविषयक ज्ञान की विशेषताएँ नहीं हो सकती ।

नाद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके न धर्मान्तौ विभुर्न च ।

आत्मा तद् गमनाद्यस्य नाऽस्तु तस्माद् यथोदितम् ॥८॥

क्योंकि कोई गुण एक द्रव्य के बिना रहता नहीं, क्योंकि अ-लोक में न धर्म (अर्थात् गति को संभव बनाने वाला एक तत्त्वविशेष) पाया जाता है न अ-लोक का कहीं अन्त है, क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी नहीं इसलिए 'केवल' ज्ञान का कहीं जाना आदि संभव नहीं । अतः इस संबंध में उपरोक्त बात ही स्वीकार की जानी चाहिए (अर्थात् यह बात कि 'केवल' ज्ञान का आश्रय-स्थान आत्मा है) ।

(टिप्पणी) जैन परंपरा की मान्यतानुसार जहाँ एक द्रव्य रहता है ठीक वहीं उस द्रव्य का एक गुण भी जबकि एक व्यक्ति की आत्मा का निवास-स्थान उस व्यक्ति का समूचा शरीर मात्र है; इसलिए एक व्यक्ति का ज्ञान—जो उस व्यक्ति की आत्मा का एक गुण है—उस व्यक्ति के शरीर से बाहर नहीं रह सकता । अतः 'नाद्रव्योऽस्ति गुणः' तथा 'विभुर्न च आत्मा' आचार्य हरिभद्र के इन दो वाक्यांशों का आशय इतना हुआ । दूसरे, यह भी एक जैन मान्यता है कि अ-लोक का कहीं अन्त नहीं तथा यह कि 'धर्म' नाम वाला तत्त्व जो लोक में गति को संभव बनाता है अ-लोक में नहीं पाया जाता; इन दो मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि 'समूचे अ-लोक में पहुँचना' यह एक ऐसा काम है जो एक ज्ञान के लिए—वस्तुतः किसी के लिए भी—संभव नहीं । अतः 'अलोके न च धर्मान्तौ' आचार्य हरिभद्र के इस वाक्यांश का आशय इतना हुआ ।



तीर्थकर का धर्मोपदेश

वीतरागोऽपि सद्देह तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयेन तथा धर्मदेशनायां प्रवर्तते ॥१॥

शोभन क्रिया-कलाप के आधार पर विदित होने वाले 'तीर्थकर' नाम वाले 'नाम-कर्म' के उदय के फलस्वरूप (अथवा 'सातवेदनीय' तथा 'तीर्थकर' नामवाले 'कर्मों' के उदय के फलस्वरूप) एक व्यक्ति वीतराग होते हुए भी एक विशिष्ट प्रकार से धर्मोपदेश में प्रवृत्त होता है ।

(टिप्पणी) 'वेदनीय' चार प्रकार के अ-घाती 'कर्मों' में से एक है तथा 'सातवेदनीय' उसका एक उप-प्रकार 'सातवेदनीय कर्म' के उदय के फलस्वरूप एक व्यक्ति को सुख की अनुभूति होती है । अतः यहाँ आचार्य हरिभद्र का आशय यह हुआ कि एक तीर्थकर को धर्मोपदेश करते समय सुख की अनुभूति होती है । 'वीतरागोऽपि' यह कहने के पीछे आचार्य हरिभद्र का आशय है कि एक तीर्थकर द्वारा धर्मोपदेश किए जाने का कारण राग, द्वेष, मोह नहीं ।

वरबोधित आरभ्य परार्थोद्यत एव हि ।

तथाविधं समादत्ते कर्म स्फीताशयः पुमान् ॥२॥

उक्त प्रकार के 'कर्म' का (अर्थात् 'तीर्थकर' नाम वाले 'नाम-कर्म' का) अर्जन वही उदारचित्त व्यक्ति करता है जो श्रेष्ठ बुद्धि (=सम्यक्त्व, सद्बुद्धि) के उदय होने के समय से ही परोपकार में लगा रहता है ।

(टिप्पणी) 'सम्यक्त्व' तथा 'मिथ्यात्व' इन शब्दों का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है; प्रस्तुत कारिका में आया 'वरबोधि' यह शब्द 'सम्यक्त्व' का ही पर्याय है ।

यावत् संतिष्ठते तस्य तत् तावत् संप्रवर्तते ।

तत्स्वभावत्वतो धर्मदेशनायां जगद्गुरुः ॥३॥

यह 'कर्म' (अर्थात् 'तीर्थकर' नाम वाला 'नाम-कर्म') जब तक उनके निकट वर्तमान रहता है तब तक जगद्गुरु धर्मोपदेश किया करते हैं और वह इसलिए कि यह इस 'कर्म' का स्वभाव ही है ।

(टिप्पणी) 'नाम-कर्म' चार प्रकार के अ-घाती 'कर्मों' में से एक है तथा 'तीर्थकर' है 'नाम-कर्म' का एक उप-प्रकार । तीर्थकर नाम-कर्म मोक्षप्राप्ति के समय तक क्रियाशील रहता है (अर्थात् एक तीर्थकर मोक्ष-प्राप्ति के समय तक धर्मोपदेश आदि तीर्थकरोचित कार्यों में लगे रहते हैं) ।

वचनं चैकमप्यस्य हितां भिन्नार्थगोचराम् ।

भूयसामपि सत्त्वानां प्रतिपत्तिं करोत्यसौ ॥४॥

जगद्गुरु का वचन एक होते हुए भी अनेकों प्राणियों में गहरी समझ उत्पन्न करता है, वह समझ जो इन प्राणियों की हितकारक है तथा जिसका विषय विविध प्रकार की वस्तुएँ हैं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि तीर्थकर के एक ही वाक्य से विभिन्न श्रोताओं को विभिन्न अर्थों की प्रतीति उनकी अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार होती है ।

अचिन्त्य पुण्यसंभारसामर्थ्यादेतदीदृशम् ।

तथा चोत्कृष्टपुण्यानां नास्त्यसाध्यं जगत्त्रये ॥५॥

और यह संभव होता है जगद्गुरु के अचिन्त्य (अर्थात् अपरिमित) पुण्य-संचय की सामर्थ्य के कारण । सचमुच, उत्कृष्ट पुण्य से सम्पन्न व्यक्तियों के लिए तीनों लोकों में कुछ भी असाध्य नहीं ।

अभव्येषु च भूतार्था यदसौ नोपपद्यते ।

तत्तेषामेव दौर्गुण्यं ज्ञेयं भगवतो न हि ॥६॥

और जो भगवान् (= जगद्गुरु) का यह धर्मोपदेश अभव्य (अर्थात् मोक्ष के अनधिकारी) व्यक्तियों को वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं करा पाता यह उन व्यक्तियों का ही दोष समझा जाना चाहिए, भगवान् का नहीं ।

दृष्टश्चाभ्युदये भानोः प्रकृत्या क्लिष्टकर्मणाम् ।

अप्रकाशो ह्यलूकानां तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

देखा भी जाता है कि स्वभाव से ही अशुभ 'कर्म' वाले उल्लुओं को

सूर्य का उदय होने पर जगत् की वस्तुएँ दिखाई नहीं पड़ती; ऐसी ही बात प्रस्तुत प्रसंग में समझी जानी चाहिए ।

**इयं च नियमाज् ज्ञेया तथाऽऽनन्दाय देहिनाम् ।
तदात्वे वर्तमानेऽपि भव्यानां शुद्धचेतसाम् ॥८॥**

और जगद्गुरु के इस धर्मोपदेश के संबंध में समझना चाहिए कि वह उस समय (अर्थात् जिस समय वह दिया गया था) प्राणियों को उस उस प्रकार से आनन्द देने वाला नियमतः सिद्ध होता था जबकि आज भी वह शुद्ध चित्त वाले भव्य (अर्थात् मोक्ष के अधिकारी) व्यक्तियों को आनन्द देने वाला नियमतः सिद्ध होता है ।



मोक्ष

कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो जन्ममृत्य्वादिवर्जितः ।
सर्वबाधाविनिर्मुक्त एकान्तसुखसंगतः ॥१॥

सब 'कर्मों' का नाश होने पर एक व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस मोक्ष की जो जन्म, मृत्यु आदि (क्लेशों) से शून्य है, जो सब प्रकार की बाधाओं से शून्य है, जो सर्वथा सुख से सम्पन्न है ।

(टिप्पणी) यह एक जैनमान्यता है कि मोक्ष के समय एक आत्मा में सभी दुःखों का अभाव ही नहीं रहता बल्कि एक परमोत्कृष्ट प्रकार का सुख भी रहता है ।

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च भ्रष्टमनन्तरम् ।
अभिलाषापनीतं यत् तज्ज्ञेयं परमं पदम् ॥२॥

सबसे उत्कृष्ट अवस्था वह समझी जानी चाहिए जिसमें दुःख का संमिश्रण न हो, जो कालान्तर में समाप्त न हो, जिसमें किसी प्रकार की अभिलाषा के लिए अवकाश न हो ।

कश्चिदाहान्नपानादिभोगाभावादसंगतम् ।
सुखं वै सिद्धिनाथानां प्रष्टव्यः स पुमानिदम् ॥३॥

किंफलोऽन्नादिसंभोगो बुभुक्षादिनिवृत्तये ।
तन्निवृत्तेः फलं किं स्यात् स्वास्थ्यं तेषां तु तत् सदा ॥४॥

इस संबंध में किसी का कहना है कि मोक्ष प्राप्त कर चुकने वाले व्यक्तियों को सुख होता है यह बात बेतुकी है और वह इसलिए कि ये व्यक्ति अन्न, पान आदि भोगों का सेवन नहीं करते । इस आदमी से हमारा पूछना है :

‘अन्न आदि भोगों के सेवन का फल क्या है ?’ उत्तर दिया जाएगा : ‘भूख आदि मिटाना’ । तब हमारा पूछना है : ‘भूख आदि मिटाने का फल क्या है ?’ उत्तर दिया जाएगा : ‘स्वास्थ्य-लाभ’ । लेकिन इस पर हमारा कहना है कि मोक्ष प्राप्त कर चुकने वाले व्यक्तियों को स्वास्थ्यलाभ तो सदा रहता है ।

अस्वस्थस्यैव भैषज्यं स्वस्थस्य तु न दीयते ।

अवाप्तस्वास्थ्यकोटीनां भोगोऽन्नादेरपार्थकः ॥५॥

औषधि एक अस्वस्थ व्यक्ति को दी जाती है, एक स्वस्थ व्यक्ति को नहीं । सचमुच, जिन व्यक्तियों ने स्वास्थ्य की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली है उनके लिए अन्न, पान आदि भोगों का सेवन बेकार है ।

अर्किचित्करकं ज्ञेयं मोहाभावाद् स्ताद्यपि ।

तेषां कण्डवाद्यभावेन हन्त कण्डूयनादिवत् ॥६॥

इसी प्रकार, क्योंकि मोक्ष प्राप्त कर चुकने वाले व्यक्तियों में मोह का अभाव होता है इसलिए उनके निकट काम आदि का सेवन भी एक बेकार की बात है—उसी प्रकार जैसे खुजली के अभाव में खुजलाना एक बेकार की बात है ।

अपरायत्तमौत्सुक्यरहितं निष्प्रतिक्रियम् ।

सुखं स्वाभाविकं तत्र नित्यं भयविवर्जितम् ॥७॥

मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाला सुख किसी दूसरे के अधीन नहीं होता, आकांक्षाओं से शून्य होता है, दुःख की प्रतिक्रियारूप नहीं होता, स्वाभाविक होता है, शाश्वत होता है, भय से शून्य होता है ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि संसारावस्था में प्राप्त होने वाले सुख के विशेषण इन विशेषणों के ठीक उलटे होते हैं ।

परमानन्दरूपं तद् गीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः ।

इत्थं सकलकल्याणरूपत्वात् साम्प्रतं ह्यदः ॥८॥

कुछ दूसरे विद्वानों ने इस सुख को परम आनन्द रूप कहा है । इस प्रकार सकल कल्याण रूप होने के कारण यही (अर्थात् मोक्ष-सुख ही) उचित है (अर्थात् एक उचित सुख है) ।

संवेद्यं योगिनामेतदन्येषां श्रुतिगोचरः ।

उपमाऽभावतो व्यक्तमभिधातुं न शक्यते ॥१॥

यह सुख योगियों के अनुभव का विषय है जबकि दूसरे व्यक्ति उसके संबंध में सुना भर करते हैं । और क्योंकि इस सुख की कोई उपमा नहीं इसीलिए उसका स्पष्ट वर्णन संभव नहीं ।

(टिप्पणी) आचार्य हरिभद्र का आशय यह है कि उसी सुख का स्पष्ट वर्णन किया जाना संभव है जिसके सदृश किसी सुख की अनुभूति हमें अपने सामान्य सांसारिक जीवन में होती हो, लेकिन मोक्ष सुख के सदृश किसी सुख का अनुभव हमें अपने सामान्य सांसारिक जीवन में होता नहीं ।



उपसंहार

अष्टकाख्यं प्रकरणं कृत्वा यत् पुण्यमर्जितम् ।
विरहात् तेन पापस्य भवन्तु सुखिनो जनाः ॥

इस 'अष्टक' नाम वाले प्रकरण को लिखकर मैंने जो पुण्य कमाया हो
उसके फलस्वरूप लोग पाप से मुक्त होकर सुखी बनें ।



परिशिष्ट-१

श्लोकानामकारादिक्रमेण सूची

- अकिञ्चित्करकं ज्ञेयं, मोहाभावाद्रताद्यपि । ३२-६
अकृतोऽकारितश्चान्यैरसंकल्पित एव च । ६-१
अक्षयोपशमात्याग-परिणामे तथाऽसति । ८-५
अङ्गेष्वेव जरां यातु, यत्त्वयोपकृतं मम । २१-६
अचिन्त्यपुण्यसंभार-सामर्थ्यादितदीदृशम् । ३१-५
अत उन्नतिमाप्नोति, जातौ जातौ हितोदयाम् । २३-८
अत एवागमज्ञोऽपि, दीक्षादानादिषु ध्रुवम् । २२-५
अतः प्रकर्षसम्प्राप्ता-द्विज्ञेयं फलमुत्तमम् । २५-१
अतः सर्वगताभास-मप्येतन्न यदन्यथा । ३०-७
अतः सर्वप्रयत्नेन, मालिन्यं शासनस्य तु । २३-५
अत्यन्तमानिना सार्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम् । १२-२
अत्रैवासावदोषश्चे-न्नवृत्तिर्नास्य सज्यते । १८-६
अदानेऽपि च दीनादे-रप्रीतिर्जायते ध्रुवम् । ७-५
अदोषकीर्तनादेव, प्रशंसा चेत् कथं भवेत् । २०-५
अधिकारिवशाच्छस्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः । २-५
अन्यस्त्वाहास्य राज्यादि-प्रदाने दोष एव तु । २८-१
अन्यैस्त्वसङ्ख्यमन्येषां, स्वतन्त्रेषूपवर्ण्यते । २६-२
अन्योऽविमृश्य शब्दार्थं, न्याय्यं स्वयमुदीरितम् । १८-१
अपकारिणि सद्बुद्धिं विशिष्टार्थप्रसाधनात् । २९-७
अपरायत्तमौत्सुक्य-रहितं निष्प्रतिक्रियम् । ३२-७
अपेक्षा चाविधिश्चैवा-परिणामस्तथैव च । ८-२
अप्रदाने हि राज्यस्य, नायकाभावतो जनाः । २८-२
अभव्येषु च भूतार्था, यदसौ नोपपद्यते । ३१-६
अभावे सर्वथैतस्यां, अहिंसापि न तत्त्वतः । १४-३

अभावेऽस्या न युज्यन्ते, सत्यादीन्यपि तत्त्वतः । १५-८
 अष्टकाख्यं प्रकरणं कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम् । ३२-१०
 अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी । ३-१
 अष्टाऽपायविनिर्मुक्त-तदुत्थगुणभूतये । ३-३
 असम्भवीदं यद्वस्तु, बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः । २९-५
 अस्माच्छसनमालिन्या-ज्जातौ जातौ विगर्हितम् । २३-६
 अस्वस्थस्यैव भैषज्यं, स्वस्थस्य तु न दीयते । ३२-५
 अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यसङ्गता । ३-६
 अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी । १६-५
 आत्मनस्तत्स्वभावत्वा-ल्लोकालोकप्रकाशकम् । ३०-४
 आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्, संवित्या चैवमिष्यते । ३०-५
 आर्तध्यानाख्यमेकं स्यान्मोहगर्भः तथाऽपरम् । १०-१
 इत्थं चैतदिहैष्टव्य-मन्यथा देशनाप्यलम् ॥ २८-८
 इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र, न शास्त्राद्वाह्यभक्षणम् । १८-४
 इत्थमाशयभेदेन, नातोऽधिकरणं मतम् । २७-६
 इदं तु यस्य नास्त्येव, स नोपायेऽपि वर्तते । २२-६
 इमौ शुश्रूषमाणस्य, गृहानावसतो गुरू । २५-६
 इयं च नियमाज्ज्ञेया, तथानन्दाय देहिनाम् । ३१-८
 इष्टेतरवियोगादि-निमित्तं प्रायशो हि यत् । १०-२
 इष्यते चेत्क्रियाप्यस्य, सर्वमेवोपपद्यते । १४-८
 ईष्टापूर्तं न मोक्षांगं, सकामस्योपवर्णितम् । ४-८
 उच्यते कल्प एवाऽस्य, तीर्थकृन्नामकर्मणः । २७-२
 उदग्रवीर्यविरहात्, क्लिष्टकर्मोदयेन यत् । ८-६
 उद्वेगकृद्विषादाढ्य-मात्मघातादिकारणम् । १०-३
 उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्यां, कृतो यत्नेन चिन्त्यताम् । १५-७
 ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः । २-७
 एको नित्यस्तथाऽबद्धः, क्षय्यसन् वेह सर्वथा । १०-४

एतत्तत्त्वपरिज्ञाना-त्रियमेनोपजायते । १०-८
 एतद्विपर्ययाद् भाव-प्रत्याख्यानं जिनोदितम् । ८-७
 एतस्मिन् सततं यत्नः, कुग्रहत्यागतो भृशम् । ९-८
 एतावन्मात्रसाम्येन, प्रवृत्तिर्यदि चेष्यते । १७-६
 एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरः सरा । ३-७
 एवं न कश्चिदस्यार्थ-स्तत्त्वतोऽस्मात्प्रसिध्यति । २७-८
 एवं विज्ञाय तत्याग-विधिस्त्यागश्च सर्वथा । १०-७
 एवं विरुद्धदानादौ, हीनोत्तमगतेः सदा । २१-७
 एवं विवाहधर्मादौ, तथा शिल्पनिरूपणे । २८-५
 एवं सद्वृत्तयुक्तेन, येन शास्त्रमुदाहृतम् । १-५
 एवं सामायिकादन्य-दवस्थान्तरभद्रकम् । २९-८
 एवं ह्युभयथाप्येतद् दुष्टं प्रकटभोजनम् । ७-८
 एवं ह्येतत्समादानं, ग्लानभावाभिसन्धिमतम् । २१-४
 एवमाहेह सूत्रार्थं, न्यायतोऽनवधारयन् । २६-४
 एवम्भूताय शान्ताय, कृतकृत्याय धीमते । १-८
 औचित्येन प्रवृत्तस्य, कुग्रहत्यागतो भृशम् । २२-८
 कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां, शक्ताविह नियोगतः । २३-७
 कर्मैन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाहुतिः । ४-१
 कश्चिदाहाऽन्नपानादि-भोगाभावादसङ्गतम् । ३२-३
 कश्चिदाहाऽस्य दानेन, क इवार्थः प्रसिध्यति । २७-१
 कश्चिदृषिस्तपस्तेपे, भीत इन्द्रः सुरस्त्रियः । १९-४
 किं वेह बहुनोक्तेन, प्रत्यक्षेणैव दृश्यते । १९-२
 किञ्चेहाऽधिकदोषेभ्यः, सत्त्वानां रक्षणं तु यत् । २८-६
 किम्फलोऽन्नादिसंभोगो, बुभुक्षादिनिवृत्तये । ३२-४
 कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथिपूजनम् । २-३
 कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो, जन्ममृत्यादिवर्जितः । ३२-१
 क्व खल्वेतानि युज्यन्ते, मुख्यवृत्त्या क्व वा न हि । १३-३

क्षणिकज्ञानसन्तान-रूपेऽप्यात्मन्यसंशयम् । १५-१
 गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् । २१-३
 गृहीत्वा ग्लानभैषज्य-प्रदानाभिग्रहं यथा । २१-२
 गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-च्छोभनादधिकं नरः । २४-१
 गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-च्छोभनादितरन्नरः । २४-२
 गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-दशुभादधिकं नरः । २४-३
 गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-दशुभादितरन्नरः । २४-४
 चित्तरत्नमसंक्लिष्ट-मान्तरं धनमुच्यते । २४-७
 जगद्गुरोर्महादानं, सङ्ख्यावच्चेत्यसङ्गतम् । २६-१
 जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् । २-२
 जिनोक्तमिति सद्भक्त्या, ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः । ८-८
 जीवतो गृहवासेऽस्मिन्, यावन्मे पितराविमौ । २५-४
 ज्ञाने तपसि चारित्रे, सत्येवास्योपजायते । ३०-२
 ज्ञापकं चात्र भगवा-न्निष्कान्तोऽपि द्विजन्मने । २७-५
 ततः सदुपदेशादेः, क्लिष्टकर्मवियोगतः । १६-४
 ततः सत्रीतितोऽभावा-दमीषामसदेव हि । १४-४
 ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः, स मृत्वा दुर्गतिं गतः । १९-८
 ततश्चास्यां सदा सत्ता, कदाचिन्नैव, वा भवेत् । १५-३
 ततश्चोर्ध्वगतिर्धर्मा-दधोगतिरधर्मतः । १४-६
 ततो महानुभावत्वा-त्तेषामेवेह युक्तिमत् । २६-३
 तत्यागायोपशान्तस्य, सद्वृत्तस्यापि भावतः । १०-५
 तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वात्, त्याज्यबुद्धेरसम्भवात् । २०-६
 तत्र प्राण्यङ्गमप्येकं, भक्ष्यमन्यन्तु नो तथा । १७-३
 तत्रात्मा नित्य एवेति, येषामेकान्तदर्शनम् । १४-१
 तथाविधप्रवृत्त्यादि व्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च । ९-५
 तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन्, शुद्धिवै शब्दमात्रकम् । २२-३
 तदेवं चिन्तनं न्याया-त्तत्त्वतो मोहसङ्गतम् । २९-६

तया सह कथं संख्या, युज्यते व्यभिचारतः । २६-६
तस्माच्छास्त्रं च लोकं च, समाश्रित्य वदेद् बुधः । १७-७
तस्मात्तदुपकाराय, तत्प्रदानं गुणावहम् । २८-४
तस्मादासन्नभव्यस्य, प्रकृत्या शुद्धचेतसः । २२-७
तस्माद्यथोदितं वस्तु, विचार्य रागवर्जितैः । १३-८
तस्यापि हिंसकत्वेन, न कश्चित्स्यादर्हिसकः । १५-६
दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद्गुरुपूजनम् । २४-८
दातृणामपि चैताभ्यः फलं क्षेत्रानुसारतः । ५-८
दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च । ४-२
दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तत्र युक्तिमत् । ११-१
दृष्ट्याभ्युदये भानोः, प्रकृत्या क्लिष्टकर्मणाम् । ३१-७
दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडा ह्यदुःखदा । ११-७
दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि, लाभ एवमसम्भवः । ६-८
देशाद्यपेक्षया चेह, विज्ञाय गुरुलाघवम् । १२-८
देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात्सङ्कोचादिधर्मिणि । १६-७
द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम् । २-१
द्रव्यतो भावतश्चैव, प्रत्याख्यानं द्विधा मतम् । ८-१
द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो, धर्मव्याघात एव हि । २१-८
धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षयोदरपूरणम् । ५-६
धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । २७-३
धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः । २०-२
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी । ४-६
धर्मार्थिभिः प्रमाणादे-र्लक्षणं न तु युक्तिमत् । १३-४
धर्मोद्यताश्च तद्योगात्ते तदा तत्त्वदर्शिनः । २६-८
ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् । २-६
न च क्षणविशेषस्य, तेनैव व्यभिचारतः । १५-५
न च मोहोऽपि सज्ज्ञान-च्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत् । १-२

न च सन्तानभेदस्य, जनको हिंसको भवेत् । १५-४
 न चैवं सदगृहस्थानां, भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत् । ६-३
 न माँसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । १८-२
 न मोहोद्विक्तताऽभावे, स्वाग्रहो जायते क्वचित् । २२-४
 नागादे रक्षणं यद्व-द्गर्ताद्याकर्षणेन तु । २८-७
 नातिदुष्टापि चामीषा-मेषा स्यान्न ह्यमी तथा । ५-७
 नाद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके, न धर्मान्तौ विभुर्न च । ३०-८
 नापवादिककल्पत्वा-न्नैकान्तेनेत्यसङ्गतम् । २०-३
 नाशहेतोरयोगेन, क्षणिकत्वस्य संस्थितिः । १५-२
 निःस्वान्धपङ्गवो ये तु, न शक्ता वै क्रियान्तरे । ५-६
 नित्यानित्ये तथा देहाद्भिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः । १६-१
 निमित्तभावतस्तस्य, सत्युपाये प्रमादतः । ७-६
 निरपेक्षप्रवृत्त्यादि-लिङ्गमेतदुदाहृतम् । ९-३
 निरवद्यमिदं ज्ञेय-मेकान्तेनैव तत्त्वतः । २९-२
 निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति, हन्यते वा न जातुचित् । १४-२
 न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादि-गम्यमेतत्प्रकीर्तितम् । ९-७
 पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् । १३-२
 परमानन्दरूपं तद्-गीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः । ३२-८
 परलोकप्रधानेन, मध्यस्थेन तु धीमता । १२-६
 पातादिपरतन्त्रस्य, तद्दोषादावसंशयम् । ९-४
 पापं च राज्यसम्पत्सु, सम्भवत्यनघं ततः । ४-४
 पारिव्राज्यं निवृत्तिश्चे-द्यस्तदप्रतिपत्तितः । १८-८
 पित्रुद्वेगनिरासाय, महतां स्थितिसिद्धये । २५-३
 पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापत्यपेक्षया । १६-२
 पूजया विपुलं राज्य-मग्निकार्येण सम्पदः । ४-३
 प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशं, प्रशमादिगुणान्वितम् । २३-४
 प्रमाणेन विनिश्चित्य, तदुच्येत न वा ननु । १३-६

प्रब्रज्यां प्रतिपन्नो य-स्तद् विरोधेन वर्तते । ५-४
 प्रशस्तो ह्यनया भाव-स्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः । ३-८
 प्रसिद्धानि प्रमाणानि, व्यवहारश्च तत्कृतः । १३-५
 प्राणिनां बाधकं चैत-च्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः । २०-७
 प्राण्यङ्गत्वेन न च नोऽभक्षणीयमिदं मतम् । १७-४
 प्रायो न चानुकम्पावां-स्तस्यादत्त्वा कदाचन । ७-४
 प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्या, गुरुशुश्रूषणं परम् । २५-५
 प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं, ब्राह्मणानां च काम्यया । १८-५
 बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम् । २३-२
 भक्षणीयं सता मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना । १७-१
 भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह, शास्त्रलोकनिबन्धना । १७-२
 भवहेतुत्वतश्चाऽयं, नेष्यते मुक्तिवादिनाम् । ७-३
 भावशुद्धिनिमित्तत्वा-त्तथानुभवसिद्धितः । २-४
 भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्गानुसारिणी । २२-१
 भिक्षुमांसनिषेधोऽपि, न चैवं युज्यते क्वचित् । १७-५
 भुञ्जानं वीक्ष्य दीनादि-र्याचते क्षुत्प्रपीडितः । ७-२
 भूयांसो नामिनो बद्धा, बाह्येनेच्छादिना ह्यमी । १०-६
 भोगाधिष्ठानविषये-ऽप्यस्मिन् दोषोऽयमेव तु । १४-७
 मह्यं पुनः प्रमादाङ्गं, तथा सच्चित्तनाशनम् । १९-१
 मह्यं प्रपद्य तद्भोगा-न्नष्टधर्मस्थितिर्मदात् । १९-७
 मनइन्द्रिययोगाना-महानिश्चोदिता जिनैः । ११-५
 मय्येव निपतत्वेत-ज्जगद्दुश्चरितं यथा । २९-४
 महातपस्विनश्चैवं, त्वन्नीत्या नारकादयः । ११-३
 महादानं हि संख्याव-दर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः । २६-५
 महानुभावताप्येषा, तद्भावेन यदर्थिनः । २६-७
 मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । १८-३
 मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् । २०-८

मोक्षाध्वसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा भुवि । ४-७
 यः पूज्यः सर्वदेवानां, यो ध्येयः सर्वयोगिनाम् । १-४
 यः शासनस्य मालिन्ये-ऽनाभोगेनापि वर्तते । २३-१
 यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र, ज्ञातं तज्ज्ञातमात्रकम् । ३०-६
 यतिध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः । ५-२
 यत्पुनः कुशलं चित्तं, लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् । २९-३
 यथाविधि नियुक्तस्तु, यो मांसं नात्ति वै द्विजः । १८-७
 यथैवाऽविधिना लोके, न विद्याग्रहणादि यत् । ८-४
 यत्र दुःखेन संभिन्नं, न च भ्रष्टमनन्तरम् । ३२-२
 यस्तून्नतौ यथाशक्ति, सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् । २३-३
 यस्य चाराधनोपायः, सदाऽऽज्ञाभ्यास एव हि । १-६
 यस्य संक्लेशजननो, रागो नास्त्येव सर्वथा । १-१
 या पुनर्भावजैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः । ३-५
 यापि चानशनादिभ्यः, कायपीडा मनाक्क्वचित् । ११-६
 यावत्संतिष्ठते तस्य, तत्तावत्संप्रवर्तते । ३१-३
 युक्त्यागमबहिर्भूत-मतस्त्याज्यमिदं बुधैः । ११-४
 ये तु दानं प्रशंसन्ती-त्यादि सूत्रं तु यत्स्मृतम् । २७-७
 यो न संकल्पितः पूर्वं, देयबुद्ध्या कथं नु तम् । ६-२
 यो वीतरागः सर्वज्ञो, यः शाश्वतसुखेश्वरः । १-३
 रागादेव नियोगेन, मैथुनं जायते यतः । २०-१
 रागो द्वेषश्च मोहश्च, भावमालिन्यहेतवः । २२-२
 लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनाऽमहात्मना । १२-४
 लब्ध्याद्यपेक्षया ह्येत-दभव्यानामपि क्वचित् । ८-३
 लौकिकैरपि चैषोऽर्थो, दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः । २१-५
 वचनं चैकमप्यस्य, हितां भिन्नार्थगोचराम् । ३१-४
 वरबोधित आरभ्य, परर्थोद्यत एव हि । ३१-२
 विचार्यमेतत्सद्बुद्ध्या, मध्यस्थेनान्तरात्मना । १६-८

विजयेऽस्य फलं धर्म-प्रतिपत्त्याद्यनिन्दितम् । १२-७
 विजयेऽस्यातिपातादि, लाघवं तत्पराजयात् । १२-३
 विजयो ह्यत्र सत्रीत्या, दुर्लभस्तत्त्ववादिनः । १२-५
 विनयेन समाराध्य, वरदाऽभिमुखं स्थितम् । १९-५
 विनश्यन्त्यधिकं यस्मा-दिह लोके परत्र च । २८-३
 विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि । ६-६
 विशिष्टज्ञानसंवेग-शमसारमतस्तपः । ११-८
 विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् । ४-५
 विषकण्टकरत्नादौ, बालादिप्रतिभासवत् । ९-२
 विषयप्रतिभासं चा-त्मपरिणतिमत्तथा । ९-१
 विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया । १३-१
 विषयो वास्य वक्तव्यः, पुण्यार्थप्रकृतस्य च । ६-५
 वीतरागोऽपि सद्देह-तीर्थकृन्नामकर्मणः । ३१-१
 वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य, भ्रमरोपमयाऽटतः । ५-३
 शरीरेणापि सम्बन्धो, नात एवास्य सङ्गतः । १४-५
 शास्त्रार्थश्च-प्रयत्नेन, यथाशक्ति मुमुक्षुणा । ७-७
 शास्त्रे चासेन वोऽप्येत-त्रिषिद्धं यत्नतो ननु । १७-८
 शुद्धागमैर्यथालाभं, प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः । ३-२
 शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं, कर्तव्यं सर्वथा नरैः । २४-५
 शुभाशयकरं ह्येत-दाऽऽग्रहच्छेदकारि च । २७-४
 शुष्कवादो विवादश्च, धर्मवादस्तथापरः । १२-१
 श्रूयते च ऋषिर्मद्यात्-प्राप्तज्योतिर्महातपाः । १९-३
 स एवं गदितस्ताभि-द्वयोनरकहेतुताम् । १९-६
 स कृतज्ञः पुमाँल्लोके, स धर्मगुरुपूजकः । २५-८
 संकल्पनं विशेषेण, यत्रासौ दुष्ट इत्यपि । ६-४
 संवेद्यं योगिनामेतदन्येषां श्रुतिगोचरः । ३२-९
 सङ्कीर्णेषा स्वरूपेण, द्रव्याद् भावप्रसक्तितः । ३-४

सत्यां चास्यां तदुक्त्या किं, तद्विषयनिश्चितेः । १३-७
 सदागमविशुद्धेन, क्रियते तच्च चेतसा । २४-६
 सदैचित्यप्रवृत्तिश्च, गर्भादारभ्य तस्य यत् । २५-२
 सर्व एव च दुःखेवं, तपस्वी संप्रसज्यते । ११-२
 सर्वपापनिवृत्तिर्यत्, सर्वथैषा सतां मता । २५-७
 सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथापरा । ५-१
 सर्वारम्भनिवृत्तस्य, मुमुक्षोर्भावितात्मनः । ७-१
 सामायिकं च मोक्षाङ्गं, परं सर्वज्ञभाषितम् । २९-१
 सामायिकविशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मणः । ३०-१
 सुवैद्यवचनाद्यद्वद्, व्याधेर्भवति संक्षयः । १-७
 सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिनरैः । २१-१
 स्नात्वाऽनेन यथायोगं, निःशेषमलवर्जितः । २-८
 स्नायादेवेति न तु य-त्ततो हीनो गृहाश्रमः । २०-४
 स्मरणप्रत्यभिज्ञान-देहसंस्पर्शवेदनात् । १६-६
 स्वरूपमात्मनो ह्येतत्, किन्त्वनादि मलावृतम् । ३०-३
 स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य, तद्धेयत्वादिनिश्चयम् । ९-६
 स्वोचिते तु यदारम्भे, तथा संकल्पनं क्वचित् । ६-७
 हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः । १६-३



